फाल्गुन सं. २००२
अप्रैल १९४६

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३१६

विषयसूची।

वेदकी संहिताएं।

प्रथम और द्वितीय भाग तैयार हैं, तृतीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मन्त्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है।

दैवत-संहिता।

दैवत-संहिता-प्रथम भाग।

		मन्त्र		पृष्ठसंख्या
१	अग्निदेवता	मन्त्र	२४५३	पृष्ठसंख्या ३४६
२	इंद्रदेवता	३३६३	,,	३७६
३	सोमदेवता	१०६१	,,	१५०
४	मरुद्देवता	४६४	,	७०

दैवत-संहिता-द्वितीय भाग।

		मन्त्र		पृष्ठसंख्या
५	अश्विनौ	मन्त्र ६८९	पृष्ठसंख्या	११९
६	आयुर्वेद-प्रकरण	२३४५	,,	२७२
७	रुद्र	२०७	,,	६४
८	उषा	१९४	,,	४०
९	अदिति-आदित्य	११३७	,,	१५६
१०	विश्वे देवाः	२३१०	,,	३२६

इन में प्रत्येक देवताके मूल मन्त्र, पुनरुक्त मन्त्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मन्त्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों मे स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

सपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु तथा डा व्य १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें।

चार वेद

१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	६)	डा०व्य० १॥)	
२ यजुर्वेद	२॥)	,, ,, ॥)	
३ सामवेद	३॥)	डा०व्य० ॥।	
४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण)	६)	,, ,,	१)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १८) रु. और डा व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य २१) रु. है। परन्तु पेशगी म आ० से सहूलियतका मू० १८) रु० है। इसलिए डाकसे मगानेवाले मूल्य १८) अठारह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेदकी संहिताएँ।

५ काण्व संहिता	४)	॥)
६ मैत्रायणी संहिता	६)	१)
७ काठक संहिता	६)	१)
८ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद)	६)	१)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २५॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं २२) रु० में दी जायंगी। डाकव्यय माफ होगा।

९ यजुर्वेद- सर्वानुक्रम	मू. १॥)	।=)
१० यजुर्वेद- पादसूची	१॥)	।=)
११ ऋग्वेद परिशिष्ट (मंत्रसूची; सर्वानुक्रम इ)	१॥)	॥।)

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमांक ३१६

वर्ष २७ | फाल्गुन, विक्रमीय संवत २००२, अप्रैल १९४६ | अङ्क ४

विश्वरूप प्रभु

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन् श्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥

(ऋ० ३।३८।४; अथर्व ४।८।३; वा० य० ३३।२२)

'सर्वत्र रहनेवाले सर्वव्यापक प्रभुकी शोभा सब देव बढा रहे हैं। यह स्वयप्रकाशी प्रभु अपने तेजको धारण करता हुआ सर्वत्र चेतना देता है। बलवान् जीवन देनेवाले इस प्रभुका यश बडा भारी है। जो यश है वह सब उसी प्रभुकाही है। यह विश्वरूपी प्रभु सब अमर देवोंको अपने अन्दर धारण करता है।'

इस विश्वका प्रभु एकही अद्वितीय है। सब सूर्यचन्द्र आदि ज्योतियाँ उसी प्रभुकी शोभाका प्रकाश कर रहीं हैं। यह प्रभु स्वयंप्रकाशी है, इसलिये उसको दूसरे किसीके तेजकी आवश्यकता नहीं है, तथापि वही सब अन्योंको तेज देता है। अर्थात् सूर्यादि देवता उसीसे तेज लेकर चमक रही हैं। अपनी दीप्तिको यह सदा दूसरोंके लिये देता रहता है। यह स्वयं अत्यंत बलवान् है और सबको जीवन दे रहा है। इसीसे जीवन प्राप्त करके सब जीव जीवनवाले हुए हैं। ऐसा यह प्रभु विश्वदेही, विश्वमूर्ति और विश्वरूप है। यह विश्वही उसका देह है। सब अमर शक्तियां इस विश्वरूप प्रभुके अन्दर हैं। जो तैंतीस अमर देव हैं या अनन्त हैं, वे इसीसे अमृत पाकर अमर बने हैं। इस प्रभुको विश्वरूप देखकर इस विश्वरूपकी विश्वरूपमें ही उपासना करनी चाहिये।

धर्मका प्रचार करनेकी तैयारी

बहुत लोग धर्म-प्रचार करनेके इच्छुक हैं। धर्मका प्रचार करना आवश्यक भी है। धर्मके प्रचारके विना मनुष्योंको सुख प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये धर्मका प्रचार करना अत्यत आवश्यक है। क्या जगत् में धर्मप्रचार नहीं किया जा रहा है? स्थान स्थानपर धर्मप्रचारके केन्द्र खुलेही हैं। देखो, कोई ऐसा ग्राम नहीं होगा कि जहां कोई न कोई धर्मोपदेशक कार्य न करता हो। फिर भी धर्मप्रचारकी न्यूनता क्यों प्रतीत हो रही है?

ईसाई लोग इतनी संघटना करके, कितनी सभा और संस्थाएं स्थापन करके अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं। यह भी धर्मका प्रचारही है। भारतवर्षमें उनके ११००० प्रचारक, ७०० छापाखाने और कितने और उद्यम हैं। वहां वे अपने मतका प्रचार कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि 'ईश्वर तीसरे आसमानमें है, उसका दर्शन मानवोंको नहीं होगा। मानव पैगंबर ईसापर विश्वास रखें। जो विश्वास रखेंगे उनका तारण होगा, और जो विश्वास नहीं रखेंगे वे नर्कमें शाश्वत कालतक सडते रहेंगे!' इस धर्मका प्रचार होही रहा है। पर इससे किसीकी सन्तुष्टी नहीं हो रही है। ऐसा क्यों हो रहा है?

क्या मोहमदीय लोग धर्मका प्रचार नहीं कर रहे हैं? हरएक मोहमदीय किसी भी स्थानमें हो वह मोहमदी धर्मका प्रचारक ही है। ये युक्तिसे, तलवारसे, जबरदस्तीसे, जिस किसी तरह प्रचार होना संभव है, उस तरह ये प्रचार करते हैं। ईरानमें और भारतवर्षमें इन्होंने प्रचार करके अन्य धर्मियोंके साहित्यका जितना नाश किया, उतना शायदही किसीने किया होगा! इनमेंसे हरएक मोहमदी अपने धर्मके विषयमें अत्यंत कट्टर रहता है। क्या ये प्रचार नहीं कर रहे हैं? ये कर ही रहे हैं। ये कहते हैं कि 'ईश्वर पांचवें आसमानमें है, मानव उसे देख नहीं सकेंगे। उनके तारण करनेके लिये पूजनीय मोहमद पैगंबर आये थे। उनपर विश्वास रखो, तो तारण होगा। विश्वास न रखोगे तो नर्ककी आगमें जलते रहना पडेगा।' इनका प्रचार चलही रहा है, क्या यह धर्मका प्रचार नहीं हो रहा? क्या यह अधूरा है? आप और किसका प्रचार करना चाहते हैं?

अनेक पुराण माननेवाले आपके सामने हैं, वे कहते हैं कि 'ईश्वर तो सर्वव्यापक है, पर वह दीखेगा नहीं। वह सर्वत्र है। वह मानवोंका तारण करनेके लिये अवतार लेकर यहां आता है, प्रकट होता है और अपने आचरणसे धर्माचारका प्रवर्तन करता है, उसपर विश्वास रखो। अनेक गुरुजन अनेक आप्त पुरुष तुम्हारी सहायता करेंगे, तुम इस प्रभुका साक्षात्कार भी कर सकते हैं।' स्थान स्थानके मन्दिरोंमें इस मतका प्रचार हो रहा है, क्या यह धर्मप्रचार नहीं है? इससे अधिक आप क्या करना चाहते हैं?

सभी कहते हैं, 'जगत् क्षणभंगुर है, ईश्वरकी ओर जाना हो तो जगत्का त्याग करना चाहिये। जगत् और ईश्वर परस्परविरुद्ध दिशामें हैं। या तो आप जगत्का भोग करोगे, अथवा ईश्वरकी प्राप्ति करोगे, पर दोनोंका मेल नहीं होगा।' क्या हरएक आदमी यह जानता नहीं? जानता है, फिर आप किस और दूसरे धर्मका प्रचार करोगे? क्या इससे भी और कुछ धर्म है, जिसका प्रचार रुक गया है, जो आप करना चाहते हैं?

वेद तथा उपनिषद्में कहा है कि 'प्रभु विश्वरूप, विश्वदेही और विश्वमूर्ति है। जो इस विश्वमें है वह प्रभुका रूपही है।' देखो-

> पुरुषः एव इदं सर्वं। (ऋग्वेद)
> इन्द्रः मायाभिः पुरुरूपः। (,,)
> सर्वं खलु इदं ब्रह्म। (उपनिषद्)
> विश्वं विष्णुः।

इस तरह संपूर्ण अखण्ड विश्वकोही भगवान् विष्णु कहा है। यही सर्वेश्वर या ईश्वर या प्रभु है। यह तो आजकल कोई नहीं मान रहा है। सब उपनिषद् तथा वेद इस बातको कह रहे हैं और प्रभुको विश्वरूप बता रहे हैं। पर सब दुनिया धर्मप्रचारके नामसे इसके विरुद्धही प्रचार कर रही है। वैदिक धर्मी भी विश्वको-ईश्वरके रूपकोही तुच्छ मानते हैं और जगत्को त्यागनेके बिना ईश्वर प्राप्त होना नहीं है, ऐसाभी कह रहे हैं।

अर्थात् वेद और अन्य धर्मपन्थ यहां प्रचारका कार्य कर रहे हैं। सब अन्य धर्मपन्थ अपने प्रचारमें मग्न हैं, वैदिक धर्मी भी अन्य मतोंकेही सिद्धान्तोंका प्रचार कर रहे हैं और मान रहे हैं कि जो हम कर रहे हैं, वही वेदका धर्म है। (नेह नाना अस्ति) यहां अनेक वस्तु नहीं हैं, ऐसा उपनिषद् बोल रहा है, पर यहां तो अनेक तत्त्वोंका प्रचार चलही रहा है!! बाकी सभी पन्थवाले अपने पंथका प्रचार यथार्थ रीतिसे कर रहे हैं। केवल एकही वैदिक धर्मी ऐसे हैं कि जो वेदके सिद्धान्तोंको न जानते हुए, अवैदिक सिद्धान्तोंका प्रचार करते हैं और समझ रहे हैं कि हम धर्मका प्रचार कर रहे हैं।

अब कहिये, आप जो प्रचार करना चाहते हैं वह किस धर्मका प्रचार है?

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय- ईश्वर तथा आत्माका अभेद

(ले०- श्री रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ़- बिजनौर, यू. पी.)

'द्वा सुपर्णा' (मु. ३-१-१) आदि बहुतसे मंत्र स्पष्ट रूपमें जीव तथा ईश्वरको भिन्नाभिन्न कह रहे हैं। उनके विपरीत 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. २-५-१९) आदिमें स्पष्ट शब्दोंमें अभेदका प्रतिपादन किया गया है। यों उपनिषदोंमें जिस ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन किया है, उस ब्रह्मविद्याके ब्रह्मको जीवात्मासे भिन्न समझें या अभिन्न समझें? यह एक गंभीर प्रश्न है। आइये, इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये उपनिषदोंके तात्पर्यका विचार करें। यदि वह परमात्मा कहानेवाला सत्य ज्ञान तथा अनन्त आनन्दरूपी ईश्वर जिसे जगत्‌के कारणके रूपमें पहचानते हैं, इस आत्मासे भिन्न हो और वह घटादि जड पदार्थोंकी नाईं किसीका विषय होता हो-किसीको दीखता हो, वह किसीको परोक्ष रहनेवाली कोई वस्तु हो, तो जो कि प्रत्येक ज्ञानी, उस ईश्वरतत्त्वको ही 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्माऽस्मीति' मैं ईश्वरतत्त्व हूं ऐसा समझते हैं और आत्मतत्त्वके ज्ञाता बन जाते हैं, वह न हो। भेदपक्षमें श्रुति और ज्ञानियोंकी अनुभवोंसे अनुमोदित ये सब बातें कपोल-कल्पित हो जायँ। भेदका विरोध करनेवाले तत्त्वमसि आदि सैकड़ों वाक्य उपनिषदोंसे उद्धृत किये जा सकते हैं। 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' यह ब्रह्मसूत्र भी परमेश्वरको आत्मा समझाने और अपने शिष्योंको समझानेको कह रहा है। जाबाल उपनिषद्‌में 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वा त्वमसि [हे परम देवते! मैं तू हूँ, तू मैं है यों हम दोनोंमें लेशमात्र भी भेद नहीं है] ऋग्वेदमें यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः [हे अग्ने! यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाय—हम दोनोंका इतना गहरा मिलाप हो जाय तो तेरे भक्तके सब आशीर्वाद सफल हो जायँ] इसी प्रकार बृहदारण्यक आदिमें अनेकबार यही बात बड़ी प्रबलताके साथ कही गई है। इसके अतिरिक्त वेदान्तोंके बहुतसे वाक्य सींग पकड़कर दिखाई हुई गायके समान लोगोंको आत्मतत्त्वका प्रत्यक्ष ग्रहण करा रहे हैं- एष त आत्मा सर्वान्तरः (बृ. ३-७-७) [यह जो सर्वान्तर तत्त्व है, यह जो सबका आत्मा है, यही तेरा आत्मा है- तुम कोई क्षुद्र प्राणी नहीं हो] एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः (बृ. ३-७-७) [यह जो अन्तर्यामी और अमर तत्त्व है, यही तुम्हारा आत्मा है] तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छां. ६-८-७) (वही सत्य तत्त्व है, वही आत्मतत्त्व है और हे श्वेतकेतो! तुम स्वयं भी वही तत्त्व हो) इत्यादि वेदान्तोंमें उसी अन्तर्यामी घटघटवासी ईश्वर-तत्त्वको जीवोंका आत्मा माना है और वे लोगोंको वैसा समझाते भी हैं। ऐसी स्थितिमें ईश्वरके आत्मा होनेमें कोई संदेह नहीं रह जाना चाहिये।

यदि किसीकी ऐसी धारणा हो जाय, ऐसा यदि कोई पूर्ण रीतिसे समझ जाय कि 'मैं ईश्वर नामका आत्मतत्त्व हूँ, मुझसे भिन्न ईश्वर नामका कोई तत्त्व नहीं है' तभी वेदान्तसूत्रों और उपनिषदोंका विरोध टाला जा सकता है। जिस दिन उनमें प्रतिपादित ब्रह्मविद्या ऐसे प्रत्यग्ब्रह्मका अवलम्बन पकड़ लेगी, जिसके भेदाकार छिप गये होंगे और जो सबका स्वरूप होगा, उस दिन तब वह दूसरी विरोधिनी अविद्याको हटा देगी, या संसारका समूल नाश कर डालेगी। वही दिन मानव जीवनकी सफलताका होगा।

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु. ३-२-९) [ब्रह्म तत्त्वको पहचाने तो स्वयं भी ब्रह्मही हो जाता है, उसे पहचाननेपर अपना स्वतंत्र जैव अस्तित्व नहीं रहता] ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृ. ४-४-६) [ज्ञान होनेसे पहले वह आत्मा सिद्धान्तरूपसे ब्रह्म था, अब ज्ञान हो जानेपर फिर दुबारा (पूर्ण रूपसे व्यावहारिक ढंगसे) ब्रह्मभावको प्राप्त हो

गया है] इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाने कोही ब्रह्मविद्याका फल कहा है। भेदवादमें इन श्रुतियोंका अर्थ करते समय यह एक बड़ा दोष रह जाता है कि दूसरी वस्तु चाहे तो नष्ट हो जाय या बनी रह जाय, वह कभी अन्यभावको प्राप्त नहीं हो सकती—भेदवादमें इन श्रुतियोंका कोई भी युक्तिसंगत अर्थ नहीं किया जा सकता। अन्तमें शेष रहा हुआ ऐक्य-ज्ञानही ऐसे महाफलको देनेवाला मानना पड़ता है। इस ऐक्य-ज्ञानमेंही उपनिषदोंका महा तात्पर्य है। भेदमें उपनिषदोंका तात्पर्य कदापि नहीं है। क्योंकि भेदके ज्ञानका कोई महाफल नहीं हो सकता। यदि उसका भी कोई फल होता होता तो यह भेददर्शी और भेदवादी समस्त संसार कृतकृत्य हो गया होता। परन्तु इसके सर्वथा विपरीत देखा जा रहा है कि भेदवादके विश्वासियोंमें जहाँ तहाँ विकलता तथा अकृतार्थता और रागद्वेषोंने अपना पूर्ण अधिकार जमा रखा है। यह भी देखते हैं कि उपनिषदोंमें भेददर्शनकी कड़ी आलोचना की गई है- अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद (बृ. १-४-१०) [जो यह समझता है कि मैं और हूं तथा मेरा उपास्य देवता और है। हम दोनों भिन्न भिन्न हैं,तो समझ लो कि उसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है- वह अबोध प्राणी है] मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (बृ. ४-४-१-९) [जो यहाँ नाना-सा देखता है, वह मौतसे मौतको पाता है। वह मृत्युतामके नगरमेंही बसा रह जाता है- उसको जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिलेगा] मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन (बृ. ४-४-१८) [तत्त्वज्ञानके संस्कारी मनसे देखनेकी बात है कि यहाँ नाना नामका कुछ नहीं है, यहाँ एकही विश्वव्यापी तत्त्व अपने एकत्वका रागद्वेषहीन आनन्द लेनेके लिये अनेकी भावकी लीला कर रहा है।]

उपनिषदोंमें जहाँ तहाँ जो कि भेदभावका कथन करनेवाले मन्त्र पाये जाते हैं, इसका एक विशेष कारण है कि वे अनादि अविद्यासे कल्पित किये हुये तथा प्राणियोंके हृदयमें भले प्रकार घुसे हुए भेदवादका अनुवाद कर रहे हैं और भेदका कथन करतेही करते अभेदका प्रतिपादन कर देते हैं। जैसे छोटे बालकोंको पढानेवाला पूर्ण ज्ञानी भी उन्हींकी टूटीफूटी अधूरी भाषामें बोलता बोलता धीरे धीरे उनके अज्ञानका नाश कर देता है और खेलखेलमें ज्ञानकी बात सिखा देता है, उसी प्रकार ये उपनिषदें भेददर्शी प्राणियोंको उपदेश करते समय उनके मनमें घुसे हुए भेदकी भाषामेंही उनको उपदेश करते करते उचित अवसर आनेपर सांकेतिक भाषामें अभेदका उपदेश करती हैं। शुद्ध अभेदकी नीरव भाषामें प्रश्न और उत्तर कथन और उपकथन कुछ भी नहीं बनता।

इसके अतिरिक्त जिस वस्तुका खण्डन करना हो, उसका उल्लेख (कथन) भी तो करना पडता है—जब हम किसी ऐसे स्थाणु (ठूंठ) को स्थाणु बताना चाहते हैं जिसे किसीने चोर समझ लिया हो और उससे डरता हो, तब उस भ्रान्त पुरुषके-समझे हुए चोरका नाम भी लेना पडता है कि तुम्हारा समझा हुआ चोर स्थाणु है। यदि इस रीतिसे स्थाणुका ज्ञान करानेवाले पुरुषको भी चोरका बतानेवाला मान लिया जायगा तो इन उपनिषदोंको भी द्वैत (भेद) का प्रतिपादन करनेवाली कहा जा सकेगा। मनुष्य सावधानीसे उपनिषदोंका पाठ करनेपर स्पष्ट देखेगा कि उनका महा तात्पर्य अभेदमें ही है।

एक बात यह भी है कि- द्वैतका कथन करनेवाले जितने मंत्र हैं, वे द्वैतका कथन साधारणतया (बिना किसी प्रकारका बल लगाये) करते हैं। परन्तु जब अद्वैतके प्रतिपादनका अवसर आता है, तब ये मंत्र एव, एक, हि, आदि निश्चय-बोधक अव्ययोंकी भरमार करते हैं। उपनिषदोंके स्वाध्यायके समय हम देखते हैं कि अद्वैतको सिद्ध करनेमें उनको बडा भारी आग्रह और उत्कण्ठा है- किसी बातको सिद्ध करनेके लिये जितने भी प्रबल शब्द जोडे जा सकते हैं उतने वे जोडते हैं। देखिये- आत्मैवेदं सर्वम् (छां. ७-२५-२) [यह सब कुछ आत्मा 'ही' है] सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छां. ३-१४-१) [यह सब कुछ 'निश्चयही' ब्रह्मतत्व है] तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मि (बृ. १-४-१०) [उसने अपने आत्माको ' ही ' समझा कि मैं ब्रह्म हूं।] एकधैवानुद्रष्टव्यम् (बृ.४-४-२०) [इस दृश्य प्रपंचको एकरूपमें'ही' देखना सीखो, इस प्रपंचको अनेकत्वमय समझना समझकी भूल है।] अहमेवाधस्तात् (छां. ७-२५-१) [नीचे भी मैं 'ही' हूँ, ऊपर भी मैं 'ही'हूं] आत्मैवाधस्तात् (छां. ७-२५-२) [आत्मा 'ही' नीचे है, आत्माही ऊपर है] यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् (बृ. ४-५-१५) [जिस

उदात्त अवस्थामें सब कुछ इसका आत्मा 'ही' बन जाता है] इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ. ८-४-६) [यह जो सब कुछ दीख पड़ रहा है, यह सब आत्माही आत्मा है–यह सब इस आत्माकाही आत्मसंभोगार्थी रूपान्तर है] ब्रह्मैवेदम् (मु. २-२-११) [यह दृश्य जगत् जो कि सामने दृष्टिगोचर हो रहा है, मूलमें 'ब्रह्मतत्वही' है] अहं मनुरभवं सूर्यश्च (बृ. १-४-१०) [वामदेवको जब इस तत्वका ज्ञान हुआ तब उसकी ज्ञानचक्षु खुली और उसके मुंहसे सहसा ये सात्मीत्म्यबोधक शब्द निकल पड़े कि ओहो! पूर्व युगोंमें मैं ही मनु हुआ था, वर्तमानमें मैं ही यह देखनेवाला सूर्य हूँ] तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छां. ६-८-७) [वही सत्य तत्व है, वही आत्मवस्तु है और हे श्वेतकेतो! वही तत्व तुम भी हो] एकमेवाद्वितीयम् (छां. ६-२-१) [वह सब प्रकारसे एक 'ही' है, उसके साथ दूसरा कोई तत्व यहां नहीं है] इन श्रुतियोंका अद्वैतवादके विषयमें भारी आग्रह तथा द्वैतकी ओर इनकी भारी उदासीनता स्पष्ट है। ये आग्रह और वह उदासीनतारूपी दोनों बातें व्यर्थ नहीं हैं। इन सब भाषाशैलियोंका एक विशेष अभिप्राय है, जिस ओर उपनिषत्पाठियोंका ध्यान जाना चाहिये।

हम इंद्रियाधीन अदूरदर्शी प्राणियोंकी दृष्टि देश और कालकी मर्यादामें बंधी रहती है। हम इन्द्रियाधीन लोग दूर–देश और दूर–कालकी वस्तुको देख नहीं सकते। यही कारण है कि हमें अपनी इन भौतिक इन्द्रियोंसे देश कालातीत वस्तुका परिज्ञान नहीं हो सकता। हम प्राणियोंको देश और कालकी मर्यादामें न आनेवाले जिस तत्वका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणसे या प्रत्यक्षके सहारेसे जीनेवाले अनुमान प्रमाणसे नहीं हो सकता, उस अगम्य तत्वको हमें बता देनेके लियेही वेदों (उपनिषदों) को प्रमाण माना जाता है। वेदका वेदपन यही है कि जो तत्व प्रत्यक्ष या अनुमानकी पहुँचसे परेके हैं, हमें उनका परिज्ञान करा दे। अब देखते हैं कि भेदका ज्ञान तो मनुष्यको ही नहीं किन्तु पशुपक्षियोंतकको है। ऐसी अवस्थामें यदि वेद भी इसी सर्वलोकप्रसिद्ध भेदवादका प्रतिपादन करते हों तो उस वेदमें 'ज्ञात–ज्ञापकता' (जानेबूझेको बताना) किंवा 'सिद्धार्थबोधकता' रूपी दोष आता है। जो (द्वैत) वस्तु सब प्राणियोंको प्रत्यक्ष ज्ञात हो रही है, यदि वेद उसीका बोध करा रहे हों तो वेदोंमें निरर्थकतारूपी दोष लगता है। ऐसी परिस्थितिमें चाहे वेदोंके शब्द भेद और अभेद दोनोंको कहें तौ भी उनका अभिप्राय (तात्पर्य) अभेदमें ही मानना पड़ता है। जैसे प्रत्यक्षसे एक दो बित्ता (बालिश्त) लम्बे दीखनेवाले चांदको ज्योतिषशास्त्रके अनुसार सहस्रों कोस लंबा चौड़ा माना जाता है और उसके आधारसे अपने प्रत्यक्ष दर्शनको भ्रान्त समझ लिया जाता है, इसी प्रकार इस भेद-दर्शनको श्रुति और अनुभवी लोगोंके अनुभवपूर्ण वाक्योंके आधारसे भ्रान्त मान लेना पड़ेगा। इसीमें मनुष्यका आत्मकल्याण है।

उपनिषदोंमें अस्थूलता आदि धर्मों (बृ.३-८-८) का वर्णन आता है। यदि यह वर्णन इन जीवात्माओंसे भिन्न भिन्न किसी और (तटस्थ ईश्वरतत्व) का हो तो वैसा तटस्थ ईश्वरतत्व (अनात्मा होनेसे) अज्ञेय और अनुपयोगी रहेगा, उसे कोई भी जान न सकेगा– (जाननेके साधन जो इन्द्रिय तथा मन आदि हैं वे अस्थूल आदि धर्मोंवाले होनेके कारण उसतक नहीं पहुंच सकेंगे।) उस तत्वमें इन अस्थूलता आदि धर्मोंको जानकर भी उससे मुमुक्षु लोगोंको क्या लाभ होगा? उन्हें जाननेसे उनकी कौनसी भ्रान्ति मिटेगी? ज्ञानका काम किसी भ्रान्तिको मिटाना है। जो ज्ञान किसी भ्रान्तिको नहीं मिटाता, वह अनुपयोगी है। [इन धर्मोंको अपनेसे भिन्न किसी दूसरे ईश्वरतत्वके समझ लेनेसे यह दोष होगा, जोकि अनादि कालसे जीवोंमें यह भ्रान्ति चली आ रही है कि 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गौर हूँ' इत्यादि उनकी इस स्वगत भ्रान्तिकी निवृत्ति कभी न हो सकेगी] इसके विपरीत जब कोई जीव ऐसा जान लेगा कि अस्थूलता आदि धर्मोंवाला ईश्वरतत्व मैं ही हूँ, तब उसे यह लाभ होगा कि उसने अपने आत्माको अबतक जो विपरीत मोटा पतला गोरा काला आदि समझ लिया था उसकी इस विपरीत बुद्धिकी निवृत्ति हो जायगी। अपने आत्माको जो कि भूलसे स्थूल या कृश समझ लिया था, मुमुक्षुकी उस मोहमूलक मिथ्या बुद्धिकी बाधा करनाही उन उपनिषदोंका फल कहा जा सकता है।

मुमुक्षु शब्द भी जीवेश्वरकी भिन्नताके विषयमें हमारी

कोई सहायता नहीं करता। उसके अर्थका विचार करनेपर भी यही बात समझमें आती है कि किसीपर किसी प्रकारका बन्धन आया हुआ है और अब वह उस बन्धनसे ऊब गया है, उसे अब वह बन्धन सहन नहीं हो रहा है। वह बन्धन क्या है ? अज्ञान। अज्ञानका स्वरूप क्या है ? अस्थूलको स्थूल समझ लेना, अकृशको कृश मान लेना, अशरीरको शरीरी मान लेना, आदिही अज्ञानका स्वरूप है। यों मुमुक्षु शब्दका विचार करने पर भी यही पता चलता है कि यदि वह ईश्वरतत्व इस मुमुक्षुसे भिन्न कोई वस्तु होती, तो उसके अस्थूलता आदि धर्मोंको जाननेसे मुमुक्षुका किसी भी प्रकारका अज्ञान नष्ट नहीं होता और तब इसका उससे कोई लाभ न होता। इस कारण उस ईश्वरतत्वको मुमुक्षुका आत्माही मानना पडता है। तभी उसके अस्थूलता आदिको जाननेसे मुमुक्षुका भ्रम मिट सकता है और इसका आत्मकल्याण हो सकता है।

कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च (बृ. ३-८-७) [यह आकाश नामका तत्व किस तत्वमें ओतप्रोत हो रहा है ?] अर्थात् इस कार्यकारणात्मक जगत्का आश्रय कौनसा तत्व है ? इस प्रश्नके उत्तरके रूपमें अस्थूलमनणु (बृ. ३-८-८) आदिसे अक्षर तत्वका उपक्रम करके- एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः (बृ. ३-८-९) [हे गार्गि ! इसही अक्षर तत्वके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा अधर लटक रहे हैं] यों बीचमें भी इसी तत्वका जगत्के ईश्वरके रूपमें परामर्श किया है। फिर बीचमें अदृष्टं द्रष्टृ (बृ. ३-८-११) वह तत्व किसीसे भी देखा नहीं गया, परन्तु फिर भी सबका मूल द्रष्टा वही है] इस प्रकार उसके नित्य स्वभावका वर्णन किया है। अन्तमें एतस्मिन्नु खलु अक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च (बृ. ३-९-११) [हे गार्गि! सुनो इसी अक्षरतत्वमें यह आकाशप्रभृति संपूर्ण कार्यकारणात्म संसार ओतप्रोत है] इन शब्दोंमें उपसंहार किया है। इस सबसे यही तो सिद्धही है कि ये संपूर्ण वाक्य ईश्वरतत्वकाही प्रतिपादन कर रहे हैं। प्रकरणकी उपयोगी बात यह है कि यहींपर पीछेसे नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ-श्रोतृ-मन्तृ-विज्ञातृ (बृ. ३-९-११) [इस तत्वसे भिन्न द्रष्टा या श्रोता या मन्ता या विज्ञाता कहानेवाला (जीव या प्रत्यगात्मा नामका) कोई पदार्थ संसारमें नहीं है] यह कहा है। इस प्रकरणका पूर्वापर विचार करनेपर जीवात्मा और ब्रह्मके अभेदका निर्णय होता है। इस सबको देखकर निःसन्दिग्ध रीतिसे कहना पडता है कि इस अध्यात्मशास्त्रका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ईश्वर तथा आत्माका अभेद है। ऐसी अवस्थामें जो कि जीवात्माओंको इस शरीरकी रचनाके अनुसार स्थूलता आदि धर्मोंका अध्यास हो गया है, इन उपनिषदोंका परम उद्देश्य उनकी इस भ्रान्त धारणाको हटा देना है। इस कारण इन अस्थूलता आदि धर्मोंको मनुष्यके अज्ञानमूलक मिथ्या अध्यासकी निवृत्ति कर देनेके लिये जीवात्माओंकाही विशेषण समझना होगा। यदि तो जीवात्माओंसे भिन्न किसी तत्वमेंसे स्थूलता आदिका निषेध कर देना इनका तात्पर्य माना जायगा तब तो यह केवल शून्यताका वर्णन होगा। क्योंकि आत्मासे भिन्न जो कुछ होगा फिर वह साक्षात् ब्रह्मदेव भी क्यों न हो, वह अनात्मा (जड) होगा। यह अनात्मा जड पदार्थमें स्थूलता आदि धर्मोंका योग होनेके कारण वह भी इस निषेधकी मर्यादामें आ जायगा अर्थात् वह भी एक निषिद्ध पदार्थ हो जायगा। फिर ईश्वरका ईश्वरभाव भी मिट्टीमें मिल जायगा और तब इन वाक्योंका केवल इतना प्रयोजन होगा कि वह सबकुछका निषेध कर दिया जाय। इन सब दोषोंसे बचनेके लिये यह मानना होगा कि जो कोई अस्थूलता आदि धर्मोंवाला तत्व है, वह अनात्मा नहीं हो सकता। उस तत्वको जो कोई ईश्वर माने वह यह भी करे कि उसेही अपना आत्मा (आपा) भी समझे और अपने आपको क्षुद्र अस्तित्व न मानकर विश्वव्यापी सत्ताके रूपमें जाने और मुक्त होकर जीवन-यात्रा करे।

यदि जीवात्मासे भिन्न किसी तत्वमेंसे, स्थूलता आदि धर्मोंका निषेध किया जाता है, तो वह एक अप्राप्त (अनहोनी) बातका प्रतिषेध होता है। क्योंकि ईश्वरतत्वके अशरीर होनेके कारण, उसमें तो, स्थूलता आदि धर्मोंकी प्राप्ति किंवा संभावना भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें यह जो स्थूलता आदिका असंभावित निषेध किया गया है, वह क्यों किया गया है ? वह सर्वथा निष्फल हो जाता है। ' आकाशमें भवन मत बनाओ,' यह निषेध जितना निरर्थक है, यदि परमात्मा जीवोंसे भिन्न हो तो वैसाही यह निषेध

निरर्थक है कि परमात्मा अस्थूल है। यदि जिज्ञासु आत्मासे भिन्न किसी तत्वमेंसे, देह इन्द्रिय प्राण और मनका तथा इनके स्थूलता आदि धर्मोंका निषेध करनाही शास्त्रका अभिप्राय हो तो अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः (मु. २-१-२) [वह तत्व प्राण और मनसे रहित है तथा परम शुद्ध है] इत्यादि वचन निरर्थक हो जायँ। तब यह नहीं बताया जा सकता कि इन मंत्रोंमें किस भावसे (किस उपयोगके लिये) क्यों ईश्वरतत्वमेंसे प्राण आदि धर्मोंका निषेध किया गया? जैसे कि प्रत्येक बातके विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध नामके चार अनुबन्ध होते हैं, ऐसे भेद (द्वैत) पक्षमें इस बातका विषय क्या होगा? क्योंकि भेदवादीके अभिमत तटस्थ ईश्वरतत्वमें प्राण, मन, इन्द्रिय या देहकी प्राप्तिही नहीं है। फिर ऐसे निषेधोंका इष्ट फल क्या होगा? यह तो सब मानेंगे कि निषेधोंका फल यथार्थ होना चाहिये, ऐसी अवस्थामें भेदके आग्रहीको विचारना पड़ेगा कि क्या उसके अभिमत ईश्वरतत्वमें प्राण आदि धर्मोंकी प्रसक्ति होती थी? जिसको इस शास्त्रने हटाया अथवा भेदवादमें शास्त्रका तात्पर्यही नहीं है? भेदके आग्रहीको यह भी विचारना होगा कि जो अबोध प्राणी देह, इन्द्रिय, मन और प्राणको तथा इनके धर्मोंको भी 'मैं' मान बैठा, कहीं उसके इस भ्रमको हटा देना और उसे आत्मतत्वके शुभ्र रूपका दर्शन करा देनाही तो कहीं उस शास्त्रका उद्देश्य नहीं है? इस विवेचनसे यही समझमें आता है कि उपनिषदोंका परम तात्पर्य अभेदमें है।

अध्यात्म-विद्या

(ले०- पं० ऋभुदेवशर्मा 'साहित्यायुर्वेदभूषण,' आचार्य 'सांगवेदोपवेद-विशारद,' हैदराबाद द०)

विद्या, शास्त्र, उपदेश आदि समानार्थक हैं और सबका एकही उद्देश्य है। जिससे ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका नाम विद्या है। जिससे हम कुछ सीखते हैं, उसका नाम शास्त्र है। जो हमें मार्गका संकेत करता है, वह उपदेश कहलाता है। शब्दोंका अपना अपना, अर्थ होता है और अर्थवश उनकी अनेक व्याख्याएँ होती हैं। वही नियम यहाँ और सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

न्यायदर्शनके भाष्यमें वात्स्यायन मुनिने उपनिषदोंको अध्यात्मविद्या बतलाया है। वहीं उन्होंने यह भी कहा है, न्यायादि दर्शन भी अध्यात्मविद्या हैं। 'तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाऽध्यात्मविद्यामात्रमियं स्याद् यथोपनिषदः'

(न्या. भा. १।१।१)

उपनिषदोंको सभी लोग अध्यात्म-विद्या समझते हैं, परन्तु दर्शन उससे भिन्न समझे जाते हैं। यद्यपि दोनोंका क्रम भिन्न है, तथापि अध्यात्म-विद्या दोनोंकी साझी है।

अध्यात्म-सम्प्रदायोंकी गणना की जाय तो मत-मतान्तरों की अगणित संख्या मिलेगी। ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, पौराणिक, कबीर-पन्थी, नानक-पन्थी, दादूपन्थी ये सभी अध्यात्म-पन्थ हैं, परन्तु ईश्वरके गुण गानेके अतिरिक्त इनमें कोई अध्यात्मवाद नहीं। सच्चा अध्यात्मवाद वेद उपनिषद् और दर्शनोंमेंही प्राप्त होता है और वही छटा पुराणोंको भी क्वचित् शोभित कर रही है।

उपनिषद् वैदिक अध्यात्मवाक्योंका संग्रह है और दर्शन विश्लेषण। उपनिषदोंने आत्मा, प्राण, मन आदिका महत्व दर्शाया है और दर्शनोंने लक्षण और परीक्षणद्वारा विश्लेषण करके इनके स्वरूपकी पहचान कराई है।

उपनिषद्ने कहा-

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।'

अर्थ- आत्माको रथी जान और शरीरको रथ।

अर्थात् रथीके समान, शरीररूपी रथपर, यह आत्मा बैठा है। रथी रथका स्वामी होता है, आत्मा भी शरीरका स्वामी है। स्वामी रथको जहाँ चाहे ले जा सकता है, आत्मा भी शरीरसे काम लेनेमें स्वतंत्र है। यह शरीरको जैसे चाहे बना या बिगाड़ सकता है। शरीरके गुण-धर्मानुसार, इससे जो काम लेना चाहे ले सकता है। रथी रथसे पृथक् होता है, आत्मा भी शरीरसे पृथक् है। रथी एक रथके टूट-फूट जानेपर दूसरा रथ ग्रहण कर लेता है, आत्मा भी एक शरीर नष्ट होनेपर दूसरा शरीर धारण करता है। रथके

सारथि, घोड़े, लगाम और घोड़ोंके चलनेके मार्ग होते हैं। शरीररूपी रथके सारथि बुद्धि, इन्द्रिय घोड़े, मन प्रग्रह (लगाम) और विषय मार्ग हैं।

आत्म-साधक जब इस उदाहरणके द्वारा अपना ध्यान करता है तब उसे स्पष्ट दीखने लगता है कि 'मै शरीररूप रथपर बैठा हुआ हूँ। मैं इसका स्वामी हूँ। जबतक मैं अपनेको नहीं समझता था, तबतक शरीर और विषयोंका दास था; पर अब ये समस्त साधन मेरे हैं, मेरे अधीन हैं। घोड़ोंकी रस्सी मेरे हाथमें है, वे मेरे मनके विरुद्ध कैसे जा सकते हैं ? मैं शरीर और मनको अपनी इच्छाके अनुसार ले चलूँगा। ये तो जड़ हैं,मेरे विरुद्ध कैसे जा सकते हैं? मैं इन्हें नहीं जाने दूंगा। इन्हें मनमानी नहीं करने दूँगा। मैं आत्मा हूँ, स्वामी हूँ, स्वतंत्र हूँ। इन्द्रियोंका दास बनकर क्यों रहूँ ? रथके मोहसे क्यों दुःखी होऊं ? रथके चक्र (Wheel)टूटनेपर रथीकी टांग नहीं टूटती। शरीरकी टांग कट जानेपर आत्माकी टांग नहीं कटती, आत्मा अविनश्वर है, अटूट है, अखण्ड है, इसको भय किसका ?' सचमुच ऐसा जानकर आत्माको सन्तोष होता है। वेदने कहा—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(यजु० ४०।७)

'(विजानतः) विज्ञानी पुरुषके (यस्मिन्) जिस हृदयमें, ज्ञानमें (सर्वाणि) सारे (भूतानि) भूत, उत्पन्न जगत् और प्राणी (आत्मा एव) आत्माही (अभूत्) हो गया, (एकत्वम्) एकता, एक भावको (अनुपश्यतः) देखनेवालेके (तत्र) उस हृदयमें (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) शोक हो सकता है?'

आप अद्वैतवादी हों वा आत्म-नित्यत्ववादी, आपको इस मंत्रसे सन्तोष प्राप्त होगा। आत्माको रथी मान लेने और समझ लेनेपर दासता मिट जायगी। आत्मा अपनेको जो कुछ समझ और मान रहा है, वह उसकी भूल है। वह बाहर देख रहा है,अन्तरमें जो कुछ है वह उसकी दृष्टिमें नहीं आता। इस विपरीत दर्शनका नामही अविद्या है। अध्यात्म विद्यासे अपना बोध हो जानेपर उसकी आन्तरिक दृष्टि परिवर्तित हो जावेगी,तब वह अपनेको नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त समझेगा। अपनेको सुख-दुःखसे परे मान सुखी होगा।

दर्शन आत्माकी पहचान बतलाते हैं—

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्॥
(न्या० १।१।१०)

'जिसके साथ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये गुण लगे हों, वह आत्मा कहलाता है।'

शरीरके साथ इच्छा-द्वेषादि भाव लगे हुए हैं। ये भाव नित्य नहीं हैं। शरीरकी एक ऐसी भी अवस्था है कि जिसमें इन भावोंका लोप हो जाता है। यह अवस्था तब प्राप्त होती है, जब शरीरमेंसे कोई तत्त्व बाहर हो जाता है। वह तत्त्व आत्मा नामसे प्रसिद्ध है। दर्शन इसकी परीक्षा करते हैं और कहते हैं, हम आँखसे देखते हैं, कानसे सुनते हैं, हाथसे स्पर्श करते हैं, जिह्वासे स्वाद लेते हैं। ये सब इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करते हैं। जब हम देखते हैं कि आँखसे देखे पदार्थको स्पर्शद्वारा भी मनुष्य जान लेता है, तब अनुमान होता है कि इन्द्रियोंसे परे भी कोई सत्ता है जो इन दोनों इन्द्रियोंके कार्योंका एक साक्षी है और ये इन्द्रिय उसीकी प्रेरणासे कार्य करते हैं। वह सत्ता मन भी हो सकती है और आत्मा भी। परन्तु मन तो एक करण (साधन-मात्र) है। साधन स्वतंत्र सत्ताका स्थान नहीं ले सकता। 'मनः प्रग्रहमेव च' (कठ०) मन तो रस्सी है, बुद्धि सारथि है, तब मनसे परे आत्माही स्वतंत्र सत्ता है। उसके माने बिना निर्वाह नहीं है।

दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्॥ (न्या० ३।१।१)

आत्मा अवयवोंके संघातरूप देहसे भिन्न है, यतः दर्शन और स्पर्शनसे एक अर्थका ग्रहण होता है। दूसरेका अनुभव दूसरेको ज्ञात नहीं हो सकता, इससे यही सार निकलता है कि देखने और स्पर्श करनेवाला कोई एकही है, तभी तो एक इन्द्रियसे दृष्ट पदार्थको दूसरे इन्द्रियसे स्पर्श करके जान लेता है।

चक्षुरादिभिः सुखादयो न गृह्यन्त इति करणान्तरेण भवितव्यम्॥ (न्या० भा० ३।१।१८)

चक्षु आदिसे सुख-दुःखका ज्ञान नहीं होता, अतः मन नामक इन्द्रिय होना चाहिये तब मन आत्मा नहीं कहला सकता।

अध्यात्मविद्यामें आत्माका ज्ञान मुख्य और ईश्वरादिकी व्याख्या गौण है। उपनिषदों और दर्शनोंसे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो गई है। इति।

त्रिगुण-समस्या

(ले०- श्री० लालचन्दजी, कृष्णनगर, लाहौर)

(१)

मनुष्योंकी भिन्न प्रकृति

धर्ममार्गके यात्रीको गुणोंके भेदको अवश्य जानना चाहिये। जैसे जिसके गुण होंगे, वैसे उसके कर्म होंगे और जैसे कर्म होंगे, वैसा स्वभाव होगा।

धर्ममार्ग

धर्म सबको धारण करता है, धर्ममार्ग वह जीवन-चर्या है, जिससे मनुष्य दीनहीन न रह सके और आधार बननेका सामर्थ्य अनुभव कर सके।

मनुष्यका मनुष्यत्व

सद्विवेक के अनुसार कर्म करनेसे ही मनुष्य, मनुष्य है। मनुष्यमेंसे सद्विवेक जाता रहे तो वह मननशील न रहेगा और मननशील न रहनेसे मनुष्यपन से गिर जायेगा। विवेकहीन लोगोंके कारण ही दीनता और हीनता दिखाई देती है। विवेकहीन लोग ही अहंकार और अभिमानमें चूर देखे जाते हैं। विवेकसे मनुष्यमें समता आदि सभी दिव्य गुण विकसित होते हैं और वैयक्तिक तथा सामाजिक उन्नति होती है। विवेकसे मनुष्य सत्यको समझता है और सद्व्यवहार करता है तथा यशस्वी होता है। विवेक मनुष्यका धर्म है। मनुष्य की बुद्धि ही उसे अन्य जन्तुओंसे पृथक् करती है। विवेक शुद्ध हो, निर्मल हो, तो मनुष्य सर्वहित कर सकता है। अविवेकी स्वार्थी होता है। उसके विचार क्षुद्र होते हैं, उसकी भावनामें ममत्व प्रधान रहता है और इसीलिये वह परतंत्र रहता है। जो परहित चिन्तन करके पराये दुखदर्दको दूर करनेमें सहायक है, अथवा दूसरों की उन्नतिमें सहयोग देता है, वह उन सबको अपना सहायक बना लेता है और इसमें सामूहिक शक्ति बढती है।

वैयक्तिक सत्य आवश्यक है, पर सामूहिक सत्य-अनुष्ठान अत्यंत आवश्यक है। विना समष्टिमें सद्व्यवहारके स्थिर होनेके समाज अथवा राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता। जहां प्रतिज्ञा पालन करना सबकी आदत हो, वहां व्यवहार कितना सरल और सुन्दर होगा! जहां लोग कहकर मुकर जायें अथवा लिखे तक की अवहेलनाको तत्पर हों, वहां का समाज कभी समृद्ध नहीं हो सकता। जहां क्षुद्र वैयक्तिक अधिकार प्रबल हो और सामाजिक हित गौण हो, वह जाति नहीं केवल मनुष्योंका समूह है और वह समूह व्यक्तिगत हितोंकी प्रबलताके कारण शत्रुद्वारा पराजित किया जा सकता है। ऐसे समाजमें विवेकका न होना स्पष्ट है और इसलिए वहां धर्म नहीं है।

जहां धर्म नहीं है, वहां उन्नति तो क्या, वहां स्थिति भी संकटमें पड जाती है। जहां मनुष्योंमें सर्वहितकी भावना है और उसके अनुसार कार्य होते हैं, वहां ही धर्म है। वहां अबाध उन्नति हुआ करती है।

धर्ममार्ग इसलिए विवेक अनुसार चलनेका क्रम है। चूंकि विवेक ही मानव धर्म है, इसलिए विवेक अनुसार जीवन धर्माचरण होता है। विवेकको सचेत रखनेके लिए स्वार्थजनित मोहको तथा ममत्वको अवश्य दबाकर रखना होगा। जहां ये उभरे, विवेक जाता रहा और धर्मच्युत होनेसे मनुष्य अथवा समाजका पतन होता है।

मनुष्यका ध्येय

धर्ममार्ग ही ऋजुमार्ग है, सीधा मार्ग है, इसी मार्गपर चलकर मनुष्य अपने ध्येयको प्राप्त कर लेता है। मनुष्यका ध्येय बदलता रहता है। एक समय स्वास्थ्य ध्येय है तो दूसरे समय धन अथवा यश ध्येय है और फिर समाज-सेवा ध्येय है, अन्तिम ध्येय जनार्दन-पूजा है, अर्पण-बुद्धिसे जनोंमें वास करनेवाले भगवान् की सेवा है। सारा स्वाध्याय और सभी शिक्षा इसी एक ध्येयकी पूर्तिके लिए है। यह अन्तिम ध्येय है। स्वास्थ्य, धन, ऐश्वर्य और अपना परिवार यदि जनार्दन-पूजामें लगे रहें तो जीवन अवश्य मधुमय होगा।

विघ्न आएंगे पर दृढ संकल्प और लगनसे यत्नशील होनेसे वे दूर हो जायँगे और मनुष्यका मार्ग कंटकरहित होगा।

मनुष्य धर्मकार्य ही करे, इसीमें उसका अभ्युदय तथा कल्याण है, उसके जीवनकी पूर्ति है। धर्ममार्ग विस्तृत है, खुला हुआ है, सीधा है। प्रत्येक कार्यमें धर्मकी सहायता आवश्यक है। मनुष्य अपनी चतुराईमें पगडंडियोंमें अपने आपको डाल देता है और समय खोता है। धर्ममार्ग सीधा है, सरल है। उसपर चलनेसे ध्येय सुगम हो जाता है। यदि मनुष्य धर्मका अवलंबन करे और सदा धर्मको सामने देखे तो धर्माचरण अवश्य मनुष्यको सुरक्षित रखता है और तेज आलोक अनुभव करता हुआ आत्मज्योतिके विकासमें सदा उन्नतिशील बना रहता है, नित्य नया साहस और उत्साह अनुभव करता है और विजयी होता है। धर्मको मनुष्य कभी न भुलाए, धर्म परम बंधु है, परम रक्षक है।

गुण-भेद और गुण-विवेक

धर्मशील होनेके लिए गुणभेदका भली प्रकार जानना तथा गुण-विवेकका होना अत्यंत आवश्यक है। इस कसौटी पर मनुष्य अपने आचरण, अपने नित्यके व्यवहारको कर सकता है, अपनी जांच आप कर सकता है।

गुण तीन हैं, सत्व, रज और तम। सभी मनुष्योंमें वे तीनों गुण होते हैं। सबमें एक विशेष गुण प्रधान होता है, शेष दो दबे रहते हैं। इन गुणोंमेंसे जब जो गुण किसी मानवमें अधिकतासे विद्यमान होता है, तब उस गुणकी आधिकता उसे उस गुणवाला बना देती है। कौनसा गुण किसमें प्रधान है, यह व्यक्तिको स्वयं जानना चाहिये। क्योंकि समाजमें मनुष्य उसी गुणवाला कहा जाता है।

मनुके अनुसार त्रिगुण-परीक्षा

मनुस्मृतिके अनुसार गुणोंकी परीक्षा निम्न प्रकार की गई है—

'जब आत्मामें ज्ञान हो तब सत्व, जब आत्मामें अज्ञान हो तब तम और जब आत्मामें रागद्वेष हो, तब रजोगुण माना गया है।'

इस प्रकार सब मनुष्योंके अन्दर ये सत्व, रज तथा तम गुण सदा रहते हैं और प्रधान गुण अपनी विशेषता प्रकट करता है। मनुष्य ही क्या, सारे प्राणी इन गुणोंके चिह्नोंसे व्याप्त हैं। सारी प्रकृति ही त्रिगुणमयी है। सब पदार्थोंमें ये गुण एक या एकसे अधिक दीखते हैं। हमें यहां मनुष्यों-के अन्तःकरणोंकी गुणोंकी कसौटीपर परीक्षा करनी है।

जब मनुष्यके अन्तःकरणमें प्रेम हो, प्रीति हो, प्रसन्नता हो, चित्त प्रशांत हो और शुद्ध निर्मल प्रभामयी ज्योतिके चित्ताकर्षक प्रकाश की झलक दिखाई देती रहे, तब समझना चाहिये कि उस समय सत्वगुण प्रधान है और तमोगुण तथा रजोगुण दबे हुए हैं।

जिस समय अन्तःकरणमें दुःख हो, शोक हो, भय हो, रोग के कारण आतुरता हो, प्रसन्नता लोप होगई हो, मन इधर उधर विषयोंमें भटकता फिरे, चित्तमें स्थिरता न हो, चित्त व्याकुल रहता हो, किसीसे राग हो और किसी अन्यसे द्वेष हो, कामना बढी हुई हो, किंतु उसकी पूर्तिके अभावमें क्रोध हो, कार्यारम्भ तो होता हो किंतु समाप्ति तक धैर्य न रहता हो, बुद्धिमें निश्चय न हो, स्थिरता और दृढतामें कमी हो, संकल्पमें बलका ह्रास सूझता हो, पूर्वसे अपनेको योग्य पाता हो परन्तु अनिश्चित यत्नमें सफलता न लाभ होती हो, तो उस समय रजोगुण प्रधान है, ऐसा जानना चाहिये। ऐसी अवस्थामें सत्वगुण तथा तमोगुण दबे रहते हैं।

जब मनुष्य अपने आपको मोहमें फंसा हुआ, क्या करूं क्या न करूं, ऐसा घबराया हुआ पाए, सांसारिक रूढियोंमें फंसा हुआ पाए और विवेक काम न दे, विषयोंमें न चाहता हुआ भी अपने आपको आसक्त देखे और मतिमन्द देखता हुआ अपने आपको लाचार समझे अथवा ऐसी अवस्था हो कि नितांत विवेकशून्यसा अपने आपको निर्णय करनेके-अयोग्य जाने, तब समझना चाहिये कि इस समय तमोगुण की विशेषता है और सत्व और रजोगुण दबे हुए हैं, ऐसी अवस्था शोचनीय है।

गुणविवेक

रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानताकी अवस्था अच्छी नहीं। तमोगुणकी वृद्धि तो बहुत निन्दनीय है। यदि ऐसी ही अवस्था बनी रहे तो मनुष्य अपना ऐश्वर्य, यश, मान, शोभा, सभी खो बैठता है और संसारमें अधम गतिको प्राप्त होता है। ऐसी बुरी अवस्था व्यसन और व्यभिचारके कारण होती है। कुसंगमें ही दुर्गति होती है।

रजोगुणकी अवस्था तो बहुतांशकी होती है और वे इस-

को प्रगति ही समझते हुए व्यर्थ जीवन गंवा पश्चात्ताप किया करते हैं। उन्हें नित्य कर्मशील रहते हुए भी सुफलता नहीं मिलती। ऐसे मनुष्य संसारमें उपद्रव तथा विनाशके कारण होते हैं। संसारमें युद्ध और अन्ततः विनाश ऐसे लोगोंद्वारा ही होते हैं। रजोगुणप्रधान लोग न्याय नहीं कर सकते, वे क्रूर होते हैं। अन्य लोगोंको अपने अधिकारमें करना, उन पर अत्याचार करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही उनका ध्येय होता है। संसार जो एक जाति दूसरी जातिपर शासन करके उसे दबा रही है, यह सब रजोगुणकी ही करतूत है।

जिस देशमें रजोगुणकी प्रधानता है, वह देश प्रगति तो करता है, पर वह प्रगति विध्वंसकारी ही होती है। जहां तमोगुण प्रधान होता है, वहां लोग आलसी, प्रमादी, कर्तव्य-च्युत, दीर्घसूत्री, निद्रालु, दैवपर भरोसा रखनेवाले, स्वयं पुरुषार्थहीन और अकर्मण्य होते हैं और परिणामतः ऐसा देश पराधीन होता है।

रजोगुणी लोग आपसमें द्वेष करके एक दूसरे की उन्नतिमें ईर्षालु होते हैं, ऐसे लोगोंमें उन्नति स्थिर नहीं होती। ऐसे लोगोंमें वास्तविक सभ्यता भी नहीं होती। दंभ, कुटिलता, चालाकी आदिको ही ये लोग दक्षता कहते हैं। इन लोगोंमें धोखा देना ही चतुराई समझी जाती है। ऐसे लोग सीधे सरल ऋजुमार्गगामी सात्त्विक जनोंको, यदि ये सतर्क न हों, सावधान और संगठित न हों तो उन्हें दबा लेते हैं और नाना प्रकारके कष्ट देते हैं।

वास्तवमें रजोगुणप्रधान लोग ही असुर-वृत्तिधारी राक्षस होते हैं और स्वार्थके लिये और निजी स्वार्थपूर्तिके लिये सदा जनहितका निरादर करते हैं। पहले सीधे लोगोंको फंसाते हैं और फिर फंसे हुओंपर अत्याचार करके उन्हें लज्जित करते हैं और उनका तिरस्कार करते हैं। सात्त्विक जनोंको ऐसे कपटी, दुराचारी लोगोंसे सदा सतर्क और सावधान रहना चाहिये और अपनी सामूहिक शक्तिको संगठित करके ऐसे अन्यायी आततायी लोगोंपर जय प्राप्त करनी चाहिये।

दुराचारी लोगोंका दमन किये बिना कभी यज्ञ सफल नहीं होते। याज्ञिक लोगोंको सदा राक्षसोंसे पाला पडा है और भगवान्‌के भरोसे सच्चे नेताओंसे संचालित होकर साधुजन सदा दुष्ट जनोंपर विजयी हुए हैं। दुराचारी लोग तो वास्तव में अपने व्यभिचार तथा व्यसनके कारण स्वयं ही मरे हुए हैं, उनका अत्याचार ही उन्हें विनाशकी ओर वेगसे ले जा रहा होता है। संगठित विवेकी सत्पुरुषोंके उद्योगसे उनका दमन अवश्यंभावी है।

सत्वगुणप्रधान पुरुष अपनी सत्यनिष्ठा, स्थिरता तथा दृढतासे दिव्य शक्ति प्राप्त करते हैं और क्रूर कपटी लोगोंका विध्वंस करते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि भले लोग सदा मिलकर एक मनसे, एक उद्देश्यसे किसी महान् पुरुष-को आदर्श मानकर सदा यत्नशील हों। सम्मिलित शक्ति जो सत्य, न्याय तथा प्रेमपर निर्भर हो, सदा अनुपम परा-क्रमयुक्त होती है और दिव्य होनेसे कभी पराजित नहीं हो सकती।

रजोगुणी लोग चाहे कितना गर्जे तर्जे और घोर मचाएं, अन्तको उन्हें सात्त्विक गुण प्रधान पुरुषोंसे हार माननी ही पडती है। रजोगुणी लोग अभिमानी, मदमस्त होते हैं और सरल भाववाले सात्त्विक पुरुषोंको कष्ट देना ही अपना ध्येय समझा करते हैं। वे भूल जाते हैं कि इनके ऐसे कुकृत्य इनके अपने ही विनाशको निकट लाते हैं।

सत्वगुणप्रधान पुरुष जब भगवान्‌के आश्रय संगठित होकर, एक उद्देश्यसे, सच्ची लगनसे कार्य करते हैं, तो सारी आसुरी सेना छिन्नभिन्न हो जाती है। स्थायी जय सदा सत्य की ही हुई है और सदा होती रहेगी। पर आवश्यक यह है कि सत्यनिष्ठ सज्जन केवल अपनी उन्नतिको ही सच्ची उन्नति न समझ कर समाजकी उन्नतिमें अपनी शक्ति संगठित रूपसे लगा दें। वैयक्तिक उन्नति, अभ्युदय अथवा निःश्रेयस् चाहे कितना भी उपादेय न हो, जब वह समाजके लिए नहीं आहुत होता तब तक अधूरा है। व्यक्ति और समाजका ठीक ठीक सामंजस्य परम आवश्यक है।

जिस समाजमें व्यक्ति केवल आध्यात्मिक अर्थात् वैयक्तिक विकासमें ही तत्पर हों, वे चाहे जैसे शुद्ध स्वभाव, सत्यनिष्ठ और सरल चित्तके हों, कभी भी संगठित दुराचारी लोगोंकी सामूहिक शक्तिका पराभव न कर सकेंगे। भारतके पराभव-की समस्या ऐसी ही अनुभवमें आई है।

संगठित सत्यनिष्ठ पुरुषोंमें अनुपम प्राणशक्ति और मनो-बल होता है और जब बुद्धिकौशलसे, सद्विवेक अर्थात् धर्माचरणसे सभी एकतासे अमर तत्वको भली प्रकार समझ

कर एकनिष्ठा एकभावनासे साधनामें जुट जाते हैं, तो वृत्रा-सुरकी सेना अवश्य पराजित होती और अमर कीर्ति ऐसे पुरुषार्थी मनुष्योंको प्राप्त होती है। अमर वही है जिसकी कीर्ति है, जिसका विमल यश है। आत्मबल का विकास सत्व गुणके सहारे ही होता है। आत्मशक्ति अजेय शक्ति है, वह दिव्य है। संसारकी चतुराई, कपट, दम्भ, छल, बल उसके आगे तुच्छ हैं।

आत्मशक्तिके धारण करनेके लिए धर्मशील होना होगा। धर्माचरणमें ही आत्मशक्ति विकसित हुआ करती है। जहां धर्म है, वहां जय है।

धर्म और सत्य

धर्म तथा सदाचार एक है। सदाचार धर्मपर आश्रित है और धर्मशील होनेके लिए सत्याचरण नितांत आवश्यक है। सत्य ही परम धर्म है। सत्य भावना, सत्य विचार, सत्य संकल्प, सत्य आचार (सदाचार), सत्य व्यवहार, ये जीवनचर्याके अंग धर्म पर अवलंबित हैं, और धर्म चूंकि सद्विवेकके स्थिर होनेसे ही संभव है इस-लिये सत्य धारण किये विना मनुष्य धार्मिक अथवा धर्मशील (धर्मस्वभाववाला) नहीं हो सकता। सत्य सबको उन्नत करता है। मन सत्यसे शुद्ध होता है।

सारे विचार, संकल्प, आदि मनमें ही होते हैं फिर बुद्धि द्वारा परखे जाकर आचरणमें आते हैं। बुद्धि सद्विवेकयुक्त तभी होती है जब मनुष्यकी जीवनचर्या सात्विक हो और मनुष्यके अन्दर आप उन्नत होने, तथा अन्योंको उन्नत देखने और उनकी उन्नतिमें सहायक होनेकी सच्ची आकांक्षा हो। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाजकी स्थिति तथा स्थिर निश्चित उन्नतिके लिये सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आवश्यक हैं। ये भाव सात्विक जीवनचर्यामें ही उदित होते हैं और विकसित होते हैं। सत्वगुणी ही सदा-चारी है। वह ही धर्मशील है, उसीमें समाज, देश तथा जातिकी उन्नतिकी लगन होती है। सत्वगुणी मानवका चित्त स्थिर और उसकी प्रगति निश्चित होती है।

श्रेय तथा प्रेय

प्रत्येक मनुष्य के लिए जिसे यह आकांक्षा है कि वह अभ्युदयको प्राप्त करे और उसका चित्त शान्त रहे, तथा वह निःश्रेयसका भागी हो, गुण-विवेक परम आवश्यक है।

सत्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रत्येक मानवको अपनी विशेष किसी एक गुणकी प्रधानताके कारण प्रभावित किये विना नहीं रहते। यदि मनुष्य सद्विवेकसे यह जान जाय कि इस समय कौनसा गुण उसपर प्रभाव डाल रहा है, तो यदि वह अवस्था श्रेय की न हो तो उसे भर सक यत्न करके उसे बदलना ही होगा। श्रेयकी रुचि केवल सत्व गुणकी अवस्थामें ही हुआ करती है। रजोगुणमें प्रेमकी अभिरुचि देखी गई है और तमोगुणमें तो मनुष्य केवल आलस्य प्रमाद तथा कर्मत्यागमें ही अपना हित समझने लगता है। ऐसी अवस्था भयानक है और जितनी जल्दी हो सके उसे छोडना ही चाहिये। श्रम कर चुकनेपर, दिन-भरका काम मन लगा कर करने के पश्चात्, रात्रि समय भगवान्‌का धन्यवाद करके सब इन्द्रियाँ तथा अंगोंको आराम देनेके लिये, ताकि वे पुनः दिनके कर्तव्यमें सहायक हों, नियत समयके लिये निद्रा लेना तो ठीक है, किंतु हर समय ऊंघते रहना, तन्द्रीकिसी अवस्था में रहना बहुत हानिकारक है। आलस्य ही मनुष्य का सबसे बडा शत्रु है। इसे तो उद्यमके सहारे दबनाही होगा, वरना जीवन व्यर्थ हो जायगा। विना तीनों गुणोंके विवेकके मनुष्यको अपनी अवस्थाका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता।

मनुस्मृतिमें त्रिगुण-विवेचना

मनुस्मृतिमें यह विवेचना उत्तम रीतिसे की गई है—

" जो वेदोंका अभ्यास, तपश्चरण, ज्ञानकी वृद्धि, पवित्र-ता की इच्छा, इन्द्रियोंका निग्रह, धर्म-क्रिया और आत्माका चिन्तन किया जाता है, ये सात्विक गुणके चिह्न हैं। जब रजोगुणका उदय और सत्व तथा तमोगुणका अन्तर्भाव होता है तब आरंभमें रुचिता, अधीरता, असत् कर्मोंका ग्रहण और निरंतर विषयोंके सेवन में प्रीति होती है। उस समय समझना चाहिये कि रजोगुण प्रधानतासे वर्तमान है। जब तमोगुणका उदय और शेष दोनों गुणोंका अन्तर्भाव होता है तब अत्यंत लोभ, जो सब पापोंका मूल है, बढता है, अत्यन्त आलस्य किंवा निद्रा घेरती है, अधीरता तथा क्रूरता का निवास होता है, वेद और ईश्वर में श्रद्धा नहीं होती, अन्तःकरण मलिन रहता है, एकाग्रताका अभाव,

व्यसनोंमें आसक्ति होती है, माँगनेकी आदत होती है और प्रमाद बढता है।"

मनुष्योंका अनुभव

देखा गया है कि तमोगुणी मनुष्य, कर्महीन, निर्लज्ज (लज्जारहित) तथा मोहमें फंसा हुआ रहता है, नित्य भाग्य-को कोसता है और दूसरोंकी उन्नतिपर कभी कभी ईर्ष्या करता है, पर अधिकतर तो उदास ही रहता है और अपने आपको हीन दीन असमर्थ समझता है, मनुष्यकी अवनतिका कारण तमोगुण है और द्वेष, कलह और अन्ततः विनाशका कारण रजोगुण है। तमोगुण बहुत हेय है। रजोगुणमें अभि-मान, भेद और मत्सरके होनेसे बाह्य जीवन तो भासता है पर प्रगति विनाशकी ओर होती है। तमोगुणमें तो गति ही नहीं होती। तमोगुणी तो जडवत् अकर्मण्य रहता है और दूसरों पर भार बना रहता है।

रजोगुणकी प्रगति यदि सत्वगुणकी ओर हो जाय तो मनुष्यमें ऐश्वर्यकी वृद्धि आरंभ होती है। परन्तु लक्ष्मी तथा शोभा और कीर्ति स्थायी रूपमें सत्वगुणवाले पुरुषको ही मिलती है। रजोगुणमें गति स्थिर तथा निश्चित नहीं होती और नाही उस गतिमें व्यक्ति अथवा समाजका हित होता है। रजोगुणी स्वार्थी होता है और उसका अहंकार और अति मान उसे सदा हैतावला बनाए रखता है, वह कोई स्थिर हितकर कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता। रजोगुणमें चंचलता है, शौर्य है। रजोगुणीका मस्तिष्क सोच सकता है, वस्तुतः निरंतर सोचता तथा कार्य करता ही रहता है परन्तु उससे जनहित तो अलग रहा, अपने सच्चे हितके कार्य भी नहीं होते।

मनोविज्ञानका दृष्टिकोण

हमें मनोविज्ञानके दृष्टिकोणसे भी इस विषयकी परख करनी है और वह हितकर होगी। मनु महाराजने यह परख भी बहुत गंभीरतासे तथा सरल शब्दोंमें अपनी स्मृतिमें की है— "जिस कर्मको करके, करता हुआ, या करनेकी इच्छा रखता हुआ मनुष्य लज्जा, भय, शंकाको प्राप्त होवे तब विद्वान्‌को समझना चाहिये कि उसमें तमोगुण प्रवृद्ध है। जिस कर्ममें इस लोकमें मनुष्य पुष्कल प्रसिद्धिको चाहता है और दरिद्रताके होनेपर भी चारण भाट आदिको दान देना नहीं छोडता, तब समझना चाहिये कि उसमें रजोगुण प्रबल है। जब मनुष्यमें सर्वभावसे ज्ञान प्राप्तकी प्रबल इच्छा हो और अच्छे कर्म करता हुआ लज्जा, भय, शंकाको, प्राप्त न होता हो और सत्कर्मके करनेमें उसका आत्मा प्रसन्न होता हो, तब समझना चाहिये कि उसमें सत्वगुण प्रबल है।"

विद्वान् ही अपनी परखके योग्य

यह परख विद्वान् ही अपने लिये कर सकता है। तमो-गुण सर्वथा तमोगुणके विपरीत है। सत्वगुणमें अंतर-प्रकाश है तो तमोगुणमें अन्तर अंधकार है। सत्वगुणमें विशुद्ध प्रेम की भावना है, तमोगुणमें गाढ मोहकी वासना है और तमो-गुणी मूढ है, निपट मूर्ख है।

तमोगुणका आवरण

तमोगुणके फेरमें यदि कोई विद्वान् भी कुसंगके कारण फंस जाय तो वह पुनः विना किसी दृढ सात्विक पुरुषकी सहायताके उस अवस्थाको त्याग कर कर्मशील नहीं हो सकता।

बहुत दिनोंतक तमोगुणके आवरणमें रहनेपर तो ऐसे मनुष्यको सत्संग त्राता ही नहीं। वह कर्तव्यकर्मसे बचता रहता है और यदि कर्म करता भी है तो ऊटपटांग और सदा हानिकर। जबतक ऐसे मनुष्यकी अन्तरवाली नहीं दबती वह कुछ पछताता भी है, पर यदि बहुत समय तमो-गुणमें बीत जाय तो अन्दर इतना गहन अंधेरा छा जाता है कि ऐसे मनुष्यको लोक-लाज भी नहीं रहती। तमोगुणके चिह्न तो देखतेही दूर करने चाहिये और यदि किसी व्यक्ति को स्वयं न सूझ सकें तो उसके परिवार अथवा पडोसके लोगोंको उसकी सहायता करनी चाहिये।

रजोगुणकी विशेषता

अधिकतर जनता रजोगुणी होती है। प्रसिद्धिकी कामना सबको बनी रहती है। रजोगुणकी विशेषता बनावटी जीवन है, दिखानेका शिष्टाचार है, पाप करके भी पापी न कहलानेकी रुचि है, ईर्षा रखते हुए भी ऊपरसे सज्जनता-का बर्ताव रखनेकी इच्छा है। संक्षेपतः रजोगुणी दंभी, मिथ्याचारी, कपटी और अविश्वासी होता है। संदेह उसके अन्दर सदा रहता है। वह ऋजुता तथा सरलताको मूर्खता तथा बुद्धूपन समझता है। रजोगुणी संसारी चतुर मनुष्य

होता है जिसे सब काममें अपना ही स्वार्थ अभीष्ट होता है।

सत्त्वगुणकी महत्ता

सत्वगुणी पुरुषसे हीनी जीवनचर्या नहीं हो सकती। वह नम्र तो होगा किंतु दीन न हो सकेगा। उसका मार्ग सीधा सरल होगा। उसका जीवन व्यापक होगा। उसका कथन सदा सत्यके आधारपर होगा। उसके विचार सर्वहितके होंगे। उसके विचार और कर्ममें भेद न होगा।

उपसंहार

संसारमें आजकल बहुतात रजोगुणी तथा तमोगुणी लोगोंकी होनेके कारण सत्त्वगुणीके मार्गमें विघ्न बहुत आते हैं, परंतु उसकी स्थिरता और दृढता तथा उसका आत्म-प्रकाश उसे आगे लिए जाते हैं। मनुष्य सदा सत्त्वगुण धारण करे और सत्त्वगुणका ही विकास करे और वातावरणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता लानेका भरसक यत्न करता रहे तो जीवन अवश्य सुन्दर रहेगा, अन्दर शांति रहेगी, आनन्द निवास करेगा और धीरे धीरे परिस्थितिको अनुकूल करनेमें भी वह समर्थ हो सकेगा।

सत्वगुणी पुरुषोंको अवश्य संगठित कार्य करना चाहिये और परस्पर सहायक होकर रहना चाहिये।

(२)
भोजन

भोजनकी रुचि भी मनुष्यके गुण अवगुणकी परखमें सहायक है। देखा गया है कि मनुष्योंकी भोजनमें रुचि उनकी प्रकृतिके अनुसार हुआ करती है। जैसी जिसकी रुचि बन जाती है, वैसा ही वह भोजन करके तृप्त होता है।

हमें स्मरण है कि एक बार शिमलेमें रहते हुए एक युवक किसी सरकारी पदके निर्वाचनके सम्बंधमें हमारी कोठीपर ठहरा। प्रातःकाल भोजन करने एक ही साथ बैठे, तो देखा गया कि वह अरुचिसे भोजन कर रहा था। मैंने स्वभावानुसार जो भोजन तैयार हुआ था, वह तृप्तिसे खा लिया और दफ्तर जानेके लिये तैयार हो गया। मैंने दफ्तर पहुंचकर मालूम किया कि आगन्तुक युवककी रुचि—अनुसार भोजन बनना चाहिये था। उत्तर मिला कि घरमें सभीने स्वादसे रुचिपूर्वक भोजन किया. किन्तु केवल उसी युवकने भूखसे बहुत कम तथा अरुचिपूर्वक भोजन किया था। अनुभवसे पता लगा कि वह युवक तेज नमक, अचार, मसालेके भोजन ही खाता रहा था और सादे सात्विक भोजनकी आदत ही न थी। पुनः जब उसी वर्ष शिमला आया तो एक होटलमें ठहरा और वहाँका भोजन उसे भाया। वह युवक रजोगुणी था। योग्य था किन्तु भोजनमें संयम नहीं सीखा था।

हमें एक अन्य युवकका भी निजी अनुभव है। वह युवक सात्विक-भावोंमें पला था। जब बडा हुआ, एम. ए. में पहुंचा तो एक रजोगुणी युवकका साथ उसे ऐसा मिला कि दोनोंका भोजन भी प्रायः एकसा ही होने लगा। रजोगुणी युवकका भोजन और रहनसहन उसके गुणके अनुकूल था। दूसरा युवक सरल स्वभावका था, उसका हृदय कोमल था। वह मित्र-भाव निभाना सीखा था, किंतु स्वयं सीधे स्वभावका होनेके कारण उस युवकपर ऐसा प्रभाव पडा कि होटल आदिमें प्रीतिभोज होने लगे और अन्ततः इसी प्रकार चाय-पार्टी आदिमें मित्र-मंडलीमें सम्मिलित होने लगा। अन्ततः आंतोंमें पीडा रहने लगी। ज्वर आने लगा और आंतोंमें यक्ष्मा होनेसे माता-पिताको शेष आयुभर अपनी दुःखद स्मृति छोडकर स्वयं प्राण त्याग गया!

रजोगुणी वृत्ति अन्तमें दुःख, शोक, रोग देकर दुःखद परिणाम ही दिखाती है। भोजन विषम तथा बेमेल खानेसे ऐसे भयंकर रोग हो जाते हैं कि शरीरका निरोग रहना दुष्कर हो जाता है। केवल मृत्यु ही शारीरिक कष्टसे ऐसे रोगीको मुक्त करती है। जिस समय गत तीन वर्षोंका ब्योरा डाक्टरको यह आतुर युवक लिख रहा था, सभीको दुख होता था कि कुसंगके कारण ही वह सात्विक प्राणी असाध्य रोगमें फंसा हुआ है जिसका कोई इलाज नहीं। जिह्वाके संयम न करनेसे जीवनचर्या तक खटकेमें पड जाती है और मनुष्यका क्षय होता है।

सात्विक स्वभावके साधारण पुरुषको भी जब तक उसमें संयम दृढ न हो जाय, कुसंगसे अवश्य बचना ही चाहिये। दृढ संयमी ही दुराचारीको सन्मार्गपर लानेमें समर्थ होता है। जो लोग सात्विक जीवन त्याग कर कुसंग-वश रजोगुणी जीवनचर्या धारण कर लेते हैं, वे शीघ्र ही पछताते हुए देखे गये हैं। वे ही भोजन जो रजोगुणी वृत्तिवाले व्यक्तिको हानिकर नहीं होते, सत्त्वगुणी वृत्तिवालेके लिये रोगी होनेके लिये पर्याप्त हैं।

चाय सभी पीने लगे हैं, आजकल तो इसका प्रचार भी बहुत किया जा रहा है, पर वास्तवमें यह एक औषधि है, जो डाक्टरके बतलानेपर ही उचित मात्रामें ग्रहण करनी चाहिये। इसमें उत्तेजना होती है और पश्चात् बलकी घटतीसी अनुभव होती है। चाय भोजन नहीं है, इससे हानि अधिक है और लाभ नाममात्र। काफी तो बहुत गरम है और हमारे देश-वासियोंके अनुकूल नहीं, किंतु फैशनके गुलाम लोग अब काफी तथा चाय खूब पीने लगे हैं और साथही शक्तिका ह्रास भी अनुभव करते हैं, पर अपना व्यसन छोडते नहीं। चाय एक हल्का विष है जो पीनेवालेकी नसोंको, उसके अवयवोंको, इंद्रियोंको, मनको, दुर्बल कर देती है और चायका पीनेवाला चायसेही तृप्त होता है। यह आदत शराब पीनेसे कम बुरी नहीं, और चूंकि चाय अधिक पी जाने लगी है, इसलिए अधिक हानिकारक है।

हमें अनुभव है कि उक्त युवककी बीमारीके दिनोंमें उसकी माताने जागनेके लिए चाय अधिक पी और उसे पुत्रकी मृत्युके पश्चात् चायकी खुश्कीके कारण हिस्टीरियाके दौरे पडने लगे। डाक्टरने युवककी सेवाके लिए घरके सभी जनोंको अधिक दूध पीनेकी अनुमति दी थी और दूध पर्याप्त मात्रामें पीनेसे रोगी की सेवाके दिनोंमें घरके अन्य जनोंको थकावट कम प्रतीत हुई। दूध पूर्ण भोजन है, किंतु दूध रजोगुणी तथा तमोगुणी लोगोंको नहीं रुचता। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोगोंका इलाज योग्य परिस्थिति बदलकर शुद्ध सात्विक भोजन द्वारा तथा पवित्र संगीत-द्वारा किया जा सकता है। रजोगुणी लोगोंको जहाँ भोजन तेज रुचते हैं, वहाँ पवित्र संगीत भी नहीं रुचता। बिना खेल तमाशेके शुद्ध वायुसेवन भी नहीं रुचता।

भोजनकी परख भगवद्गीतामें बहुतही उत्तम रीतिपर दी गई है—

"आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतीको बढानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय, ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्विक पुरुषको प्रिय होते हैं। कडुवे, चटपटे, खट्टे, तेज, लवणयुक्त (तेज नमकवाले) और अति गर्म तथा तीखे, रूखे और दाहकारक (जलन पैदा करनेवाले) अन्ततः दुःख, शोक, चिंता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं। जो भोजन कुछ काल का रक्खा हुआ नीरस (रसरहित), दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (झूठा) है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस जनको प्रिय होता है।"

देखा गया है कि परिवारमें जो लोग अधिक नमकीन तथा चटपटी चीजें खाते हैं, वे क्रोधी, उतावले, अस्थिर स्वभाववाले होते हैं। उनसे कोई भी कार्य नियमपूर्वक चिरकाल तक नहीं हो सकता। यह नहीं कि ऐसे लोग योग्य नहीं होते किंतु उनकी योग्यता अधिकतर कलह, द्रोह, द्वेष आदिके उभारनेमें ही व्यय होती है।

तंबाकू भी एक व्यसन है। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग ही इस व्यसनमें फंसे देखे गये हैं। तम्बाकू पीने या खानेवाला चिडचिडा, क्रूर, बदला लेनेवाला, संदेह करनेवाला और चंचल वृत्तिवाला होता है। अधिक तम्बाकू पीनेवाला साथ शराबतक पीने लगता है, क्योंकि तम्बाकूकी कमजोरी और सुस्तीको वह शराब की तेजीसे दूर करता है। जो तम्बाकू अधिक पीते हैं और उत्तेजक द्रव्य उन्हें नहीं प्राप्त होते, वे आलसी, प्रमादी, दीर्घसूत्री हो जाते हैं और सदा अपने मन्द-भाग्यको कोसते हैं। तम्बाकूका आरम्भ रजोगुणमें है और अन्त अंध तम तमोगुणमें है।

भोजन निश्चित रूपसे किसी व्यक्तिके स्वभावकी कसौटी है। रजोगुणी स्वादके लिये खाता है। सत्वगुणी जीवन और उत्साहकी वृद्धिके लिये भोजन मर्यादासे करता है। तमोगुणी तो प्रायः त्याज्य और वर्जित आहार ही खाते और ऐसे खानेसे मन्दमति रहते हैं। रजोगुणी आप खाकर सुख मानता है और प्रायः स्वार्थपूर्ण होता है। यह नहीं कि रजोगुणी आपसमें प्रीतिभोज नहीं करते, पर उनमें परस्पर प्रेम नहीं होता, केवल ऊपरके शिष्टाचारके लिये इकट्ठे होकर भोजन कर लेते हैं। हृदयोंमें प्रायः ईर्षा, द्वेष तथा घृणाकी ज्वालाएँ जलती रहती हैं। प्रीतिभोजमें भी एक दूसरेकी निन्दा, अश्लील गीत, भद्दे कटाक्ष तथा व्यर्थकी बकवास ही देखी गई हैं। रजोगुणसे संसारके सभ्य कहलानेवाले लोगोंमें आपसके अनिष्ट बहुत हुए हैं, परस्पर हित बहुत कम देखनेमें आए हैं। यदि हितका भाव स्थिर हो गया तो

समझो कि रजोगुणमें सत्वगुणका उदय होने लगा है।

रजोगुणी लोग प्रायः बेमेल भोजन खाते हैं। और रोगी होनेमें भी अपना गौरव समझते हैं। डाक्टरोंकी टानिक, औषधियोंकी बिक्री रजोगुणी सभ्य समाजपर ही निर्भर है। रजोगुणी लोगोंकी बहुतायत है, इसलिये घरसे बाहर भोजन भी शुद्ध मिलना कठिन हो रहा है। बाजारमें भोजन लोगोंकी रुचि अनुकूल ही बन सकता है और अधिकांश लोगोंकी रुचि बिगडी हुई है। रजोगुणी भोजनके साथ रोगका निकटतम सम्बन्ध है।

हृदय ही आत्मज्योतिका केन्द्र है। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग अपने निकृष्ट आहार-विहारद्वारा वहाँ ऐसा कुहरासा बना लेते हैं कि ज्योति दबीसी रहती है, जैसे कि कुहरेवाली रातमें चन्द्रमा की चाँदनी मन्दसी दीखती है। हृदयदेश शुद्ध हो, निर्मल हो तब उसमें आत्मज्योतिका प्रकाश होता है। शुद्ध तथा बलवर्धक अन्नसे हृदयदेश स्वच्छ बना रहता है, सद्भावना जागृत रहती है, सुन्दर विचार और प्रेमके भाव सदा स्थिर रहते हैं, मनुष्य सदा प्रसन्न और शान्त रहता है। शान्त हृदयमें ही आत्मदर्शन संभव है। शान्त निर्मल प्रकाशमें चाँदकी रोशनी आह्लाद देती है, उल्लास उत्पन्न करती है, चित्त प्रसन्न करती है, क्योंकि चाँदनी निर्मल आकाशमें एक आकर्षक आभा लिये होती है, जो देखनेवालेका मन प्रफुल्लित करती है। चाँदनी सबको प्यारी है। निर्मल हृदयमें प्रकटी आत्मज्योति तो अति प्रिय होती है। यह आत्माकी जागृतिकी अवस्था है। इस अवस्थामें सारी इंद्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, फिर उनमें पापवासना नहीं रहती। शुद्ध आहार ही मनुष्यको स्थिर शक्ति, बल और पराक्रम देता है।

भोजनके विषयमें आदेश है कि भोजनकी कभी निन्दा न करे, भोजन कभी जूठा न छोडे। कर्महीनको अन्न खा जाता है, कर्तव्यपरायण पुरुषही अन्नको खाता है और पचाता है। अन्नकी पाचन-शक्ति जबतक है, तबतक ही आयु है। अपनी वीर्य-सम्पत्ति का क्षय न करे। वीर्यके स्थिर तथा वीर्यकी ऊर्ध्वगति होनेसे ही जीवनमें स्फूर्ति तथा उत्साह रहता है। कामवासनासे वीर्यकी अधोगति कभी न करे। नीचे आया हुआ वीर्य पुनः ऊपर नहीं जाता। जब आहार शुद्ध होता है, तो वीर्य शुद्ध बनता है। सारे शरीरमें कान्ति होती है, मस्तिष्कमें तेज झलकता है। मनुष्य कभी हताश नहीं होता। सदा उत्साहयुक्त रहता है और उसे कार्यमें सफलता मिलती है। आहार शुद्ध होनेसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारों पवित्र होते हैं। मनुष्य में निश्चय दृढ होता है, आत्मविश्वास बढता है। जिसमें आत्मविश्वास होता है, वह ही अन्य पुरुषोंपर विश्वास कर सकता है। परस्पर विश्वाससे प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से सब कार्यों की सिद्धि होती है और मनुष्यका यश बढता है।

(३)
दीर्घायु

सभी चाहते हैं कि हमारी लम्बी आयु हो, हम सुखी हों। किंतु प्रायः न तो सुख ही मिलता है और न लम्बी आयु ही होती है।

देखा गया है कि विरले किसी महात्माके अतिरिक्त साधारण लोग धक्के खाकर कष्ट उठाकर ही बडी कठिनाईसे सन्मार्ग की ओर आते हैं। बहुतसों को तो उपदेश भी अच्छा नहीं लगता। ऐसे लोगोंकी अवस्था दयनीय है।

ऐसे लोग भी हैं जो उपकारके बदले अपकार करनेको सदा तैयार रहते हैं। जो अभिमानी, घमंडी, दंभी, छली, कपटी होते हैं, वे अपने आपको चतुर मानते हैं, परन्तु अपनी काली करतूतोंके कारण वे नित्य संताप और चिंतामें आयु क्षीण करते हैं, पर अपनी बुरी आदतोंको नहीं छोडते। बुरीटेव, व्यसन, व्यभिचार जो आयुको घटाते हैं, कुसंगकी देन हैं। ऐसे लोग अपने आपको समझदार मानते हैं। संसारका अनुभवी समझते हैं और यह नहीं जानते कि उनके आचारविचार ही उनके दुःख, शोक, तथा रोगके कारण हैं।

कई लोग केवल शृंगारको, शरीरकी सजावट, अपने बालों तथा चहरे की खूबसूरतीको ही सौंदर्य मानते हैं। आजकल युवक-युवतियोंमें शृंगार बनावट, क्रीम, पौडर आदिमें सुन्दरता देखनेका रिवाज हो गया है। अपने मोहमें वे मूढ, दूसरोंको भी मूर्ख ही मानते हैं। अनुभवी ज्ञानवान् पुरुष ऐसे लोगोंके जीवनको कुत्सितही कहते हैं। ऐसे

लोग कभी दीर्घायु नहीं हो सकते। ' सच्चा सौन्दर्य तो हृदयकी शुद्धता, निजी सामर्थ्य, स्वस्थ शरीर, सुगठित अंगोंवाला देह, कार्यक्षमतायुक्त मन, विवेकयुक्त बुद्धि तथा आत्मविश्वास आदिके संयोगका नाम है। ' भगवान परम सुन्दर हैं। वे इसलिए परम सौन्दर्ययुक्त हैं क्योंकि वे सत्यम् और शिवम् हैं। जहां आनंद है वहां प्रेम अवश्य है। प्रेम और आनंदका निकटतम संबंध है। लोग राग और सुखको, मोहके कारण, प्रेम और आनन्द माने बैठे हैं और कुछ क्षणोंके सुखको स्थायी आनन्द समझते हैं। आनन्द आत्मा अनुभव करता है। 'सुख, इन्द्रियोंसे अनुभव होता है, अधिकसे अधिक सुख मनोभूमितक है। जब मनो-विकास होने लगता है तो मन सद्विवेकयुक्त बुद्धिके अधीन रहनेसेंही प्रसन्न रहता है; इन्द्रियोंके स्पर्शमें सुख मानकर भटकता नहीं।' सच्चा सौन्दर्य हमारी जीवनचर्या-पर निर्भर है। केवल ऊपरी सजावटको सौन्दर्य समझना भारी भूल है। ऐसी सजावट तो विलासिताका ही एक अङ्ग है, इससे मनुष्यका पतन होता है। 'विलासिता शरीर-मय जीवनकी अंतिम श्रेणी है और संयम आध्यात्मिक जीवन-का रहस्य है। ' हमने युवकोंतकको शीशा और कंघी जेबमें रखे देखा है। एक युवकको तो सौंदर्य-जिज्ञासामें चलती फिरती कन्याओंकी तसवीरें लेनेपर डांटा भी है। ये व्यसन मनमें वासना, विलासिता तथा कामलिप्साकी उत्ते-जना उत्पन्न करके जीवनका ह्रास करते हैं। धीरे धीरे ऐसी अवस्था आजाती है कि ऐसे लोग समाजके लिए अत्यंत हानिकर हो जाते हैं।

' विलासितासे जीवन-क्षय होता है। संयमसे नित्य नव जीवन प्राप्त होता है, सतत वीर्य-रक्षा होती है, मनुष्यका तेज और ओज बढता है, उसके अन्तःकरणमें नित नई स्फूर्ति होती रहती है, निरंतर उमंग बनी रहती है। अन्तःकरण अन्तर्ज्योतिसे प्रकाशित रहता है। जीवन मधुमय हो जाता है, मनुष्य सदा आनन्द अनुभव करता है, मग्न रहता है, स्नेह बढता है, नित नए शुभ विचार आते हैं। नए भाव उद्भव होते हैं। मनुष्य नवजीवन प्राप्त करता है। श्रम करनेमें सुख मानता है। ऐसी अवस्थामें चिरकाल तक जीवनचर्या करते रहनेमें प्रसन्नता होती है और परिणामतः मनुष्य दीर्घायु होता है। '

एक बार धृतराष्ट्रने विदुरसे पूछा कि सब वेदोंमें मनुष्यकी एक सौ वर्षकी आयु कही है, परन्तु सब सौ वर्ष नहीं जीते; वह कौनसा कारण है, जिससे आयु घट जाती है?

विदुरजीने उत्तर दिया—

" हे राजन्! (१) अतिघमंड, (२) बहुत विवाद, करना, (३) किसीकी वस्तुको लेकर न देना, (४) क्रोध (५) अपना ही पेट पालनेकी इच्छा और (६) मित्रोंसे वैर करना, ये छः तेज तलवारें मनुष्योंकी आयुको काटती हैं। मनुष्यको मृत्यु नहीं मारती किंतु ये ही मनुष्यको मारती हैं। "

ऐसे दोष मनुष्योंमें कुसंगतिसे उत्पन्न हो जाते हैं।

मनुष्यकी प्रकृति नीचे जानेकी ओर है, ऊंचा रखनेके लिए नियमसे उसे बांधना पडता है। जैसे जल स्वयं नीचे ही जाता है, यत्नसे ऊपर चढाकर वहां रोका जा सकता है तथा उसका उपयोग लिया जा सकता है।

बहुतसे लोगोंने भोजनका महत्व अभीतक नहीं समझा। शुद्ध सात्विक भोजनसे ही शुद्ध सात्विक मन बनता है। राजसिक, तामसिक भोजन खानेसे वैसा ही मन बनता है। तमोगुणी मन प्रमादी, आलसी और नितान्त दोषी होता है। रजोगुणी मनमें अभिमान, कपट, छल, द्रोह, स्वार्थ तथा क्रोध आदि अवगुण अवश्य होते हैं। किसीकी वस्तु लेकर न देना तमोगुणी मनका लक्षण है, चाहे ऐसी आदतसे कितना ही अपयश हो, मानहानि हो पर तमोगुणी जनको इससे क्या? तमोगुणी लोग प्रायः उद्यमहीन तथा रजोगुणी लोग वृथाके झगडे बढानेवाले होते हैं। जितने संसारमें कलह, ईर्ष्या, द्रोह, द्वेष, घृणा आदि दोष दीखते हैं, सब रजोगुण तथा तमोगुण ही की देन हैं। अल्प आयुकी मृत्युके कारण भी मानवोंके अन्दर इन दो गुणोंकी अधिकता है। तमोगुणी और रजोगुणी लोगोंकी कुछ शताब्दियोंसे बहुतात है और इसका कारण है वैदिक मर्यादाओंका लुप्तप्राय हो जाना।

वैदिक शिक्षा वस्तुस्थितिको सामने लिए हुए, मानवोंके गुणदोषोंको ठीक ठीक सामने रखती हुई मनुष्यसमाजको चैतन्य और सावधान करती है। यह विशेषता वैदिक शिक्षा की ही है कि यहां मानवोंको (नृचक्षसः) मनुष्योंको ठीक पहिचाननेवाले बननेका आदेश है। वैदिक शिक्षा सम्यक्

ज्ञान, सम्यक् जीवनचर्याकी महत्ता बताती है। वैदिक शिक्षाकी चरम सीमा भगवत् अर्पण कर्म है। सदा भगवान् को स्मरण रखते हुए निष्काम भावसे शुभ कर्म ही करते रहें और उन्हें प्रभुको अर्पित कर दें और इसीमें प्रसन्नता लाभ करें और इस प्रकार जीवनपथको मानव हृदयोंको ठीक ठीक पहचानते हुए और सबसे यथोचित व्यवहार करते हुए, तथा विघ्नबाधाओं पर विजय लाभ करते हुए चलते रहें और परम गतिको प्राप्त करें।

वैदिक शिक्षामें दोषोंके प्रति उदासीनता नहीं है। संघर्ष करके उनपर विजय प्राप्त करना ध्येय है। वैदिक शिक्षामें दीर्घ आयुकी प्राप्ति कर्तव्य है और जो अल्पायु रहता है हीन-दीन रहता है, वह दोषी माना जाता है। वैदिक मर्यादाओंके पालनेमें गृहस्थमें सुख, समाजमें सुख, देशमें समृद्धि, जातिमें अभ्युदय और ऐश्वर्य-वृद्धि तथा व्यक्तिकी शक्तियोंका पूर्ण विकास है। इसी प्रकार दीर्घायु और पूर्ण आयुकी उपलब्धि है, जो प्रत्येकको प्राप्त करनी चाहिये। यह अवस्था सात्विक गुण धारण करनेके विना अशक्य है।

सात्विक पुरुष धैर्यवान्, स्थिर तथा दृढ होगा और शान्त स्वभाव, क्षमाशील होगा। रजोगुणी मनुष्य उतावला, चंचलवृत्ति, डावांडोल, घमंडी, अभिमानी, अहंकारयुक्त होगा, सदा क्रूर स्वभाव और छल कपट करके हानि करनेका ही इच्छुक होगा। ऐसे क्रूर छली लोगोंको जो पृथिवी पर भार-रूप ही होते हैं परस्परके युद्ध, द्रोह और प्रतिस्पर्धामें कपट दंभ पर ही भरोसा होता है। रजोगुणी मनुष्य खेल तथा व्यवहारमें कभी सरल नहीं देखे गए। सदा छल, धोखा, चालाकीको ही ये चतुराई समझते हैं। इन करतूतोंसे आयु क्षीण होती है। ये लोग सदा असंतुष्ट और क्षुभित रहते हैं। अशांत चित्तमें उन्नतिके उद्योग स्थिर तथा दृढ नहीं होते और वैभव तथा संपद् अन्याय और क्रूरतासे प्राप्त करके स्वयं भयभीत रहते हैं।

श्रेष्ठ मानव जो आर्य कहलाता है वह किसीसे भयभीत नहीं होता और ना ही किसीको भयभीत करता है। उससे सभी प्रेम करते हैं, उसके तेज और ओजके आगे सभी नमते हैं। उसका जाज्वल्यमान ओज सबको झुका देता है, किंतु किसी-का वह वृथा निरादर नहीं करता। आर्यका ध्येय सर्वोन्नति होता है, वह सबकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति समझता है, इसलिए उसका मन संतुष्ट रहता है और वह कृतकार्य होकर प्रसन्नचित्त रहता है 'प्रसन्नचित्त रहना दीर्घायुका रहस्य है।'

आजकल रजोगुणप्रधान लोग वैभव ऐश्वर्य आदिमें बढते हुए भी अतिशीघ्रतासे विनाशकी ओर ही जा रहे हैं। जहां वृथाका वितंडावाद हो, विवाद किसी निर्णयके लिए न होकर केवल स्वपक्षको ऊंचा करनेके लिए हो, जहां मित्रता केवल स्वार्थ-पूर्तिका ही साधन हो, वहां परस्पर संदेहसे आरंभ होकर वैमनस्य तथा द्रोह बढकर, सुहृद्भेद और विग्रह बढते हुए, निरंतर परस्परका ह्रास होते होते अन्तको जातिका नाश हो जाता है। भारतमें कुछ शताब्दियों भर ऐसा ही हुआ है और अभीतक लोग शुद्ध सात्विक जीवनचर्याकी ओर बहुत कम आकर्षित होते हैं।

मनुष्य मोहवश मित्रोंसे वैर करता है, जैसा स्वयं पेटू, स्वार्थी होता है, वैसा ही दूसरोंको समझता है, भेद खुलने-पर दोष स्वीकार न करके उलटा क्रोध करता है। इस प्रकार आदतें बुरी पड जाती हैं और दिव्य जनोंसे ऐसे मनुष्यका वैर हो जानेसे, दिव्य शक्तियोंका न केवल विकास रुक जाता है, बल्कि धीरे धीरे संबंध विच्छेद हो जाता है और जीवन-स्रोतसे भी संबंध विच्छेद हो जाता है और ऐसा मनुष्य सुख सूख कर संतप्त और निरंतर चिंतित रहकर देह त्याग देता है।

मनुष्यके अन्दर पावन प्रभु विराजते हैं, पर मृत्युपथका पथिक प्रभुको स्वीकार नहीं करता। वह तो यदि मुखसे अपने आपको आस्तिक कहता भी हो, तो भी जीवनचर्यामें नास्तिक ही होता है। जनता-जनार्दनकी पूजा, जो निष्काम जन-सेवा है, उसे रुचती ही नहीं और वह शपितसा रहता हुआ जीवन व्यर्थ खोता है। वास्तवमें जिसने अपने तथा अन्य लोगोंके हृदयमें भगवान्को नहीं पहचाना, वह सच्चा सुख नहीं अनुभव कर सकता। आस्तिक भाव जीवनके विकासमें परम सहायक है और इससे सदा चित्त शांत और प्रेमयुक्त रहता है, जो आयुवृद्धिमें रुचि बढाता है। जो जीना चाहता है और जीवनके विकासमें रुचि रखता है, मर्यादासे रहता है, वह अवश्य दीर्घायु होगा।

रजोगुणी मनुष्य तो इन्द्रिय तुष्टि ही ध्येय मानता हुआ, सुखदुःख, मान अपमान आदि द्वन्द्वोंमें फंसा हुआ चंचल-

चित्त उतावलासा रहता हुआ, अपनी समताके स्थान निरंतर की विषमतामें ही ग्रस्त रहता हुआ, तथा विषमता बढाता हुआ, जीवन क्षीण करता है।

भगवान् जीवनसार, जीवन-ज्योति, जीवनकी गति, जीवनकी मति, जीवनके आश्रय हैं और सदा साथ रहनेवाले हैं। जो जन सदाके साथीको स्वीकार नहीं करता और उसका साथ अनुभव नहीं करता, वह स्ववश न रहकर केवल इन्द्रियोंके ही वशमें रहता है और सदा शोक, भय, रोगमें ग्रसित रहकर चिंतातुर होता हुआ देह त्याग देता है। देह त्यागते हुए उसे इन्द्रियोंके संसर्गकी तृष्णा जकडे रहती है और वह बंधा हुआ ही प्राण छोडता है। ऐसे लोगोंको दीर्घ आयु नहीं प्राप्त होती।

जो मनुष्य ऐसे कुत्सित विचार रखता है, जो उसे सदा दोषोंमें ही प्रवृत्त रखते हैं, वह किंचित इच्छापूर्तिके सुखका आभास तो अनुभव करता है, पर वास्तवमें उसका हृदय सद्भावयुक्त सज्जनोंका संसारमें आदर सम्मान देखकर संतप्त रहता है और हृदयकी वेदनासे हृदयके दुःख और संतापसे निरंतर अन्दर ही अन्दर जलता हुआ, वह अपना रूप, बल, और ज्ञान खो बैठता है। ऐसा मनुष्य वास्तवमें रोगी है, जो दूसरोंके आदर और यश तथा कीर्तिको नहीं सहन कर सकता, वह अपने आपको क्षीण करता हुआ नाश हो जाता है।

क्रूर लोग आपसमें लडकर एक-दूसरेकी निन्दा करके तथा परस्पर द्वेष उत्पन्न करके इस सुन्दर विशाल भूमिको नरक बना लेते हैं और अपनी आयु दिनों दिन कम करते हुए संसारमें उपद्रवके कारण बनते हैं। ऐसे लोगोंसे कभी किसीका हित नहीं होता। वे घमंडमें चूर स्वयं अपना नाश अपने हाथों करते हुए दीन जनोंका पराभव करके कुछ समय सुख मनाते हैं। विश्वका इतिहास ऐसे कथित विजेताओंके अन्तके हृदयविदारक दृश्योंसे भरपूर है। क्रूर लोगोंका अन्त दयनीय हुआ है। जो सर्वहितमें निजी हित अर्पित करना नहीं जान सका, वह चाहे इतना ऐश्वर्यशाली हो जाय, अन्तको पछताता हुआ संसारसे जाता है। ऐसे क्रूर लोग सदा अल्पायु ही मरे हैं।

'दीर्घायु होनेके लिए जीवनचर्या नियमित होनी चाहिये, तथा परिवार और गृहस्थका वायुमंडल शांत तथा जीवनप्रद होना चाहिये, जिसमें चिरकालतक रहनेको हरएकका जी करे। जिस गृहस्थमें सदा मंगल और शुभ विचार रहते हों, सदा स्नेह और प्रेमका बर्ताव हो, परस्पर एक दूसरेका सत्कार और आदर हो, अनुभवी विद्वानोंकी आज्ञा शिरोधार्य हो और सब एक मनसे सारे परिवारके हितके लिए इच्छुक और यत्नशील हों, वहां अवश्य दीर्घ आयु होगी।'

'दीर्घायु होनेके लिए हृदयकी पवित्रता, निष्कपटता, सरलता और कार्यतत्परता आवश्यक गुणकर्म हैं।' जब स्वभाव सात्विक हो जाता है और श्रेय तथा सर्वमंगल ही स्वभाव हो जाता है, तो सारा घर स्वर्गधाम बन जाता है और ऐसे गृहस्थमें ऐश्वर्य, सुख, सम्पत्ति, समृद्धि, सामर्थ्य, शान्ति आदि सभी दिव्य संपद् निवास करते हैं, जिनमें जीवनकी पूर्णता है और निश्चयसे दीर्घायुकी प्राप्ति है।

जब मनुष्य दीर्घायुका रहस्य समझेंगे तो जीवनको प्रेम और आनन्दपूर्ण रखनेका अवश्य यत्न करेंगे, तब संदेह दूर होंगे और मनुष्य उन्नत होता हुआ देवत्वको प्राप्त होगा। देवजन दीर्घायु हुए हैं।

देवत्व सबको अभीष्ट है। विना दिव्य गुणोंके दीर्घायुकी प्राप्ति असंभव है, पर देवत्वको प्राप्त करनेके साधन पूरे करना कठिन है। देवत्वकी प्राप्तिके लिए निरंतर सत्वगुणमें ही स्थिर और दृढ रहना होगा। सारा व्यवहार, व्यापार, आचार, रहनसहन, सात्विकही रखना होगा। 'दो घडीकी पूजा और शेष दिनरातके निश्रृंखल जीवनसे तो आयु क्षीण ही होगी।' भाव, विचार तथा आचार से भी सात्विक होनेसे ही दीर्घायुका आनंद मिलेगा।

(१) मंदाग्नि

(Dyspepsia)

(ले०- श्री० डाक्टर कुन्दनलालजी, एम्. डी., विशेषज्ञ तपेदिक व बवासीर, भूड-बरेली)

जब हमारे देशमें खाने पीनेके पदार्थोंका किसीको कष्ट न था और मनमाना दूध, घी, मक्खन, मलाई, हलवा, लड्डू सब लोग खाते थे, तब मन्दाग्निका रोग कहीं दुर्भाग्यसे ही सुन पडता था। पर आज जब कि देशवासियोंको रोटी दालके भी लाले हैं, अजीर्ण रोगने इतना दबा रक्खा है कि कठिनतासे कोईही मनुष्य ऐसा मिलेगा जिसको शौच और पेटके सम्बन्धमें कोई भी शिकायत न हो। जिससे यह सिद्ध होता है कि हमारे अजीर्णका कारण अधिक खानाही नहीं है, किन्तु कम खाना अथवा नियमविरुद्ध खाना भी है। यदि ऐसा होता कि यह अनियमता केवल अनपढ लोगों तक होती तो हम आशा करते कि शिक्षाके फैलनेपर अजीर्ण रोग भी देशसे विदा हो जावेगा, पर हमारा ४० वर्षका अनुभव यह बताता है कि अनपढोंकी अपेक्षा शिक्षित लोगोंमें यह रोग अधिक है और कम शिक्षित लोगोंकी अपेक्षा उच्च शिक्षा प्राप्त इससे और भी अधिक पीडित हैं। अतः चिकित्सक होनेके नाते हम अपने विचार जो अनुभवके आधारपर हैं, जनताके आगे रखना आवश्यक समझते हैं।

अजीर्ण, बदहज्मी, मंदाग्नि (Dyspepsia) इत्यादि शब्द लगभग एकही रोगको प्रकट करते हैं, जो दो प्रकारका होता है- (१) नवीन (Acute) जो किसी अनियमता-के कारण कुछ समयके लिये हो जाता है और थोडेसे उपचार अथवा एक दो समयके अनशनसे ठीक हो जाता है। और यदि वह शीघ्रही बार बार न हो तो उसे साधारण अजीर्ण ही कहेंगे, मन्दाग्नि अथवा Dyspepsia नहीं कहलाता। पर यदि इसको बार बार होनेका अवसर दिया जावे तो मन्दाग्निही नहीं संग्रहणी और आंतकी T. B. तक हो सकती है। (२) दूसरा पुराना (chronic) जो बडी कठिनतासे जाता है, उसे तीन श्रेणियोंमें बांटा जा सकता है- (१) आमाशयकी निर्बलतासे हो, (२) जो आमाशयमें बहुत समय तक जलन व खराश हो जानेके कारण हो, (३) वह जो मंज्ञातन्तुओंकी खराबीसे हो। (यह वीर्यदोष अथवा अधिक पढनेसे होता है)।

रोग-लक्षण

इस रोगके लक्षण सब रोगियोंमें एकसे नहीं होते, किन्तु हर प्रकारके रोगियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं। किसी किसी रोगीमें तो ऐसे अनोखे ढंग होते हैं कि नवीन शिक्षित डाक्टर भी निदानमें भूल कर जाता है। कुछ लक्षण यहां लिखे जाते हैं।

भोजनके पश्चात् पेट फूलना और शौचकी इच्छा होना, पेटमें दर्द होना, खट्टी डकार आना, बेचैनी रहना, उबकाई आना, वमन होना, कभी पतले दस्त कभी शौच भी बन्द, अपान वायुका बार बार विसर्जन होना, डकार आकर मुंहमें खट्टा पानी आ जाना, श्वासमें दुर्गन्ध आना, मूत्र गदला होना और रोगीका निर्बल हो जाना। पुराने रोगमें भूख प्रायः कम हो जाती है, और पेट फूलता है तथा खट्टी डकारें आती हैं, जी मिचलाता है। रोगी सुस्त रहता है, शिरमें पीडा होती है, हृदय बहुत धडकता है। आमाशयके पास दर्द होता है, हाथ पांवकी हथेलीयाँ जलती हैं। दस्त आते हैं।

पाचन-क्रिया

अजीर्ण रोगके कारणोंपर विचार करनेसे पूर्व एक दृष्टि पाचनक्रियापर डालना आवश्यक है।

रोटी, दाल, शाक, फल, दूध, घी इत्यादि जो पदार्थ हम खाते हैं, वह पहले मुंहमें पहुंचकर जहां दांतोंमें पीसे जाते हैं, वहां मुंहमें लार उसमें मिलकर भोजनको पचाती है। अतः जितने अधिक समय भोजन मुंहमें रहेगा और दांतोंसे पीसा जावेगा, उतनेही शीघ्र आमाशयमें पाचन-

क्रिया होगी। इसी कारण आयुर्वेदका मत है कि भोजन एकान्त स्थानमें धीरे धीरे खूब चबाकर करना चाहिये तथा उस समय अधिक गपशप भी न की जावे जैसा कि आजकलकी सभ्यतामें रिवाजसा पड गया है। मि. गिलैडस्टोन, प्रधान मंत्री इंगलैंड जो ८० वर्षकी आयुमें भी बलवान् थे,हर कौरको ३२ वार चबानेकी सम्मति देते हैं। लन्डनके प्रसिद्ध डाक्टर राबक्स, एम. डी., लिखते हैं–

" The reduction of food to a state of minute division in the mouth is a most essential step towards easy & perfect digestion. Digestion really means solution & as solid substances, intended by the Chemists for solution, are first reduced in the laboratory by the pestle & mortor, so must the teeth perform a precisely similar process with the food. Not a particle capable of being further reduced by the teeth should be admitted into the stomach, as the work of the former can never be fully performed by the later.

जो लोग भोजनको विना चबाये शीघ्रतासे निगल लेते हैं उनके आमाशयको दांतोंका कार्य करना पडता है, जिसके योग्य वह नहीं है। परिणाम यह होता है कि प्रथम तो भोजन अधिक समय तक आमाशयमें पडा रहनेसे सडने लगता है और मन्दाग्नि तथा और भी अनेक रोगोंका कारण होता है। दूसरे आमाशय अपनी शक्तिसे अधिक कार्य करनेके कारण निर्बल हो जाता है। अस्तु। यदि भोजन दांतोंसे पिसा हुआ आमाशयमें पहुंचता है तो वहां यकृत इत्यादिके कई तेजाबोंके मिलनेसे एक लवदीकी भांति हो जाता है और वहां की २२ फीट लम्बी छोटी आंतमें होता हुआ बडी आंतमें पहुंचता है। और मल कोलनमें एकत्र होनेपर शौचकी इच्छा होती है। भोजनका सारभाग इससे पूर्वही गिल्टियाँ चूस चूसकर रक्तमें पहुंचा देती हैं जिससे हमारे रक्तकी मात्रा बढती है और फिर रक्त शरीरमें भ्रमण करके हमारे सब अंगोंका पालन पोषण करता है। यदि पाचनक्रियामें गडबड हुई तो एक ओर तो रक्त ठीक और शुद्ध मात्रामें नहीं बनेगा,दूसरी ओर मल भी ठीक समयपर विसर्जन नहीं होगा और कोलनमें सडता रहेगा, जिसकी गन्दगी शोषक गिल्टियां खींचकर रक्तमें पहुंचावेंगी और रक्त दूषित होकर अनेक रोगोंका कारण होगा। अतः पाचनक्रिया कर ठीक रूपमें होना आवश्यक है, अन्यथा अजीर्ण होगा। पाचनक्रियाके ठीक न होनेके अनेक कारण हैं जिनमेंसे कुछ प्रधान कारण यहां लिखे जाते हैं–

(१) विना भूख खाना, (२) भोजनको भली प्रकार न चबाना, (३) अपनी पाचनशक्तिसे अधिक कडी वस्तु खाना, (४) भूखसे अधिक खूब कस कर पेट भरके खाना,(५) अप्राकृतिक वस्तुएं मांस, मदिरा, भंग, तम्बाकू इत्यादि खाना, (६) बहुत संस्कार की हुई चीजें जैसे बर्फ, चाट,मिठाई, बालूशाही,गुलाबजामुन इत्यादि अधिक सेवन करना,(७) चायका अधिक प्रयोग करना,(८) मीठे खट्टे व चटपटे पदार्थोंका बहुत उपयोग करना, (९) भोजनके साथ अधिक जल पीना अथवा अन्य समयमें कम जल प्रयोग करना (१०) गरम रोटी खाकर ऊपरसे बर्फका पानी पीना,(११) विषम भोजन करना जैसे दूध और खरबूजा, दूध और मछली, दूध और खटाई (विशेषतया सिरका),दूध और हरे पानीवाले साग एक साथ खाना, रातमें दूध चावलका एक साथ खाना, मूली और दही एक साथ खाना, (१२) रातको बहुत समय तक जागना, भोजन, करके तुरन्त सो जाना, अधिक रात गये भोजन करना, प्रातः सूर्योदयसे पहले न उठना, (१३) अधिक विषयभोग करना, भोजन पचनेके पूर्व विषयभोग करना (तुरन्त करनेपर तपेदिक तक हो सकती है), अप्राकृतिक विषयभोग करना, (१४) बहुत दिमागी काम करना और व्यायाम कुछ न करना अथवा शक्तिसे अधिक परिश्रम करना, (१५) भोजनके उपरान्त तुरन्तही मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम करना, (१६) बहुत चिन्ता, शोक, विरोध, डाह इत्यादि करना, (१७) प्रातःकाल शौच इत्यादि न करके अन्य खाने पीनेके कार्योंमें लग जाना, (१८) गन्दी हवा अथवा अशुद्ध मकानमें रहना और शरीरके सब मलोंको भली प्रकार साफ न करना, (१९) रक्तका अशुद्ध होना अथवा यकृत इत्यादिका बिगड जाना, (२०) ऐसिड कोनैन, अन्य तेज दवायें तथा चूर्ण इत्यादि का बार बार सेवन करना, (२१) प्रमेह, बवासीर, प्रदर,

सुजाक, गरमी, तपेदिक आदि रोगोंका होना, (१२) बहुत कसे हुए वस्त्र पहनना, विशेषतया पेटपर दबाव डालनेवाले वस्त्र, पेटी पतलून इत्यादिका देरतक पहनना, (१३) गीली भूमि अथवा ढीली खाट अथवा बहुत मुलायम बिस्तरपर सोना, (१४) भोजन समय विशेष करना इत्यादि।

चिकित्सा

कारणको दूर करनेसे कार्यका अभाव होता है। अतः यदि आपको अजीर्ण रोग है तो आप उपरोक्त कारणोंमेंसे निर्णय करें कि किस कारणसे है,उसेही त्याग दें। यह सबसे सरल चिकित्सा है। इसके अतिरिक्त नीचेके नियमोंपर आचरण करनेसे अजीर्ण नष्ट होनेमें सहायता मिलती है।

(१) प्रातः चार घडी रात्रि रहे उठकर थोडा पानी पीना चाहिये और तब वायुमुक्त आसन करके शौच जाना चाहिये। उसी समय शुद्ध वायुमें भ्रमण करना चाहिये। अजीर्णके रोगीको प्रातः भ्रमणसे बढकर कोई औषधि लाभ नहीं करती। जितना अधिक भ्रमण किया जावेगा उतनाही अधिक लाभ होगा। एक दो मीलसे लेकर १० मीलतक की यात्रा बढाई जा सकती है। हाँ, थकावटका ध्यान रक्खे। भ्रमण समय गहरी सांस लेना अथवा मैदानमें बैठकर प्राणायाम करना और भी हितकर है।

(२) यदि अधिक निर्बलता न हो तो इसके अतिरिक्त और भी साधारण व्यायाम किया जा सकता है।

(३) ब्रह्मचर्यव्रतका अधिकसे अधिक पालन किया जावे।

(४) सूर्यप्रकाशमें अधिक रहनेका अभ्यास डालें। जाडोंमें तो दिनभर धूपमें रह सके तो बहुत अच्छा है। गरमीमें भी सूर्योदय समय उसकी लाल किरणें पेट और छातीपर लगने दें।

(५) सर्वदा भोजन खूब भूख लगनेपर चबा चबा कर खाये।

(६) कब्ज दूर करनेको हिप-बाथ अथवा बस्तीकर्म (एनीमा) करते रहें।

(७) हर समय प्रसन्न रहना पाचनक्रियाको सहायता देता है।

(८) गायका मट्ठा अजीर्ण रोगकी महौषधि है। इसका सेंधा नमक, जीरा डालकर दोपहरके भोजनके ऊपर सेवन हो।

(९) पानीमें एक चुटकी खानेका सोडा डालकर पीना भी लाभदायक है।

यदि इन सब उपायोंसे रोग न जावे तो फिर किसी योग्य चिकित्सककी शरण लेनी चाहिये। अताई व नासमझ हकीम डाक्टरोंकी तेज दवाओंका सेवन भूलकर भी न करना चाहिये। क्योंकि इनसे तुरन्त कुछ लाभ प्रतीत होता है, पर वास्तव ये रोग बढते हैं और अन्तको अजीर्ण रोगसे आंतोंकी तपेदिक भी देखी गई है।

(२) यज्ञचिकित्साके मंत्र

यज्ञचिकित्सासे आरोग्य हुए रोगियोंकी चर्चा जबसे समाचारपत्रोंमें हुई, तबसे जहां अनेक निराश रोगी इससे लाभ उठाकर यज्ञके भक्त बन रहे हैं, वहां बहुतसे सज्जन इसपर कठिनसे कठिन आक्षेप करके किसी प्रकार इसको निरर्थक सिद्ध करनेका यत्न करते हैं। आश्चर्य मालूम होता है कि जीवित गाय, घोडोंका रक्त निकाल उससे सीरम बनाया जावे, ऐसे सीरमसे बने इंजेकशन करानेमें कोई आक्षेप नहीं होता! मांस मदिरासे बनी औषधियोंको बिना-कुछ पूछे केवल डाक्टरके कहनेसे लोग पी जाते हैं, पर ' हवन-यज्ञ ' जैसे प्राचीन तरीकेकी चिकित्सापर सैकडों आक्षेप किये जाते हैं! फिर भी कठिन रोगोंकी ऐसी अवस्थामें जहां कोई भी चिकित्सा-विधि काम नहीं करती यज्ञचिकित्साकी सफलता देख कट्टरसे कट्टर विरोधियोंके भी मस्तिष्क उसके आगे झुल जाते हैं। कुछ सज्जन आक्षेप करते हैं कि जब यज्ञका वैज्ञानिक प्रभाव रोगको दूर करता है, तो वैसेही औषधियां जलाई जा सकती हैं। विधिपूर्वक हवन करने और विशेषतया वेदमंत्र पढनेकी क्या आवश्यकता है? हमारा उत्तर यह है कि आगमें औषधि डालना भी एक विधि है फिर हमारीही विधिपर क्यों आक्षेप किया जाता है? हमारी विधिकी हर बात वैज्ञानिक है,जो शिष्य भावसे सात्विक बुद्धिसे समझी जा सकती है। यहां हम केवल यह बतलाते हैं कि वेद-मंत्र पढनेका क्या प्रभाव है। वेदमंत्र पढना एक मानसिक चिकित्सा है। यह सब लोग जानते हैं कि मनका स्वास्थ्य-से बडा गहरा सम्बन्ध है। मनकी प्रसन्नतापर स्वास्थ्य ठीक और मनमें विकार होनेपर सब शरीर रोगी मालूम होता है। वेद-भगवान्‌ने मनको "जोतिषां ज्योतिः" ज्योतियोंका ज्योति, महा ज्योति बतलाया है और इस समयके वैज्ञानिक भी यही कहते हैं कि " Mind is a great electrical force " अर्थात् मन एक महान् विद्युत्-मय शक्ति है। मनसे अधिक वेग एवं शक्तिवाला कोई अन्य भौतिक पदार्थ नहीं है। इतनाही नहीं मनको **प्रज्ञान और चेतः** भी कहा गया है। अर्थात् मन ज्ञानका करानेवाला तथा चेतना देनेवाला है, यह प्रत्यक्षही सिद्ध है। बिना मनोयोगके हमारी सारी ज्ञानेन्द्रियां निकम्मी हो जाती हैं। चक्षु बिना मनके योगके कुछ भी नहीं देख सकती, श्रोत्र भी सुन नहीं सकता,नासिका सूंघ नहीं सकती, रसना भी स्वाद नहीं ले सकती, जबतक इन इन्द्रियोंके साथ मनका सहकार न हो। इसीलिये शास्त्रकारोंने आत्माको रथी, शरीरको रथ और मनको सारथी माना है। आधुनिक मनोविज्ञानके पंडित भी यही कहते हैं कि जितनी क्रियाएँ हो रही हैं वे सब मन.-शक्तिके कारण हैं। बिना मनकी सहकारिताके क्रियाका होना असम्भव है " All conscious actions are done under the direct influence of will. "

अर्थात् सभी ऐच्छिक क्रिया इच्छाशक्ति (मन) के अधीन हैं। वेद भगवान् आदेश देते हैं-"येन कर्माणि... मनीषिणो...कृण्वन्ति" अर्थात् मननशील विद्वान् जिसके द्वारा सब कार्य करते हैं और "यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते " अर्थात् जिसके बिना कोई काम कियाही नहीं जा सकता, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो। ऋग्वेदमें बतलाया है:—

' अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
अग्निमीधे विवस्वभिः।' (ऋ. ८।१०२।२२)

अर्थात् मनके द्वारा अग्नज्योतिको प्रदीप्त करते हुए मनुष्य धारणावती सर्वज्ञानधारक बुद्धिको प्राप्त करें, जिस प्रकार मैं सूर्यकिरणोंसे अग्नि प्रदीप्त करता हूं।

इसका भाव यह है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंको आतशी शीशे (Convex lence)में केन्द्रित करनेसे

अग्नि उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार मनको ध्येय-वस्तुमें केन्द्रित करनेसे अनन्त अन्तर्ज्योति (Latent heat) प्रज्वलित हो जाती है, जिसके द्वारा आप यथेष्ट कार्य-सिद्धि कर सकते हैं। कारण मनके केन्द्रित होनेसे अन्त-र्ज्योति ' आत्मज्योति ' का प्रकाश होगा जो संसारकी समस्त शक्तिसे बडी है। उस आत्मशक्तिके द्वारा मनुष्य चाहे जो कर सकता है। आधुनिक विद्वान् डा० यूरेल भी कहते हैं—

'By the medium of the super conscious mind you are brought into conscious relationship with the infinite power from which you can draw the energy needed to supply all the demands of your nature.'

कुछ साधारण बुद्धिके लोग कहेंगे कि मनमें विचार करने मात्रसे रोगीके शरीरमें कैसे बल आ जावेगा और बलवान् अपनेको रोगी समझने मात्रसे कैसे निर्बल हो जावेगा? ऐसे लोगोंके समझनेके लिये हम दो साधारण उदाहरण देते हैं। एक हट्टाकट्टा स्वस्थ मनुष्य बडे वेगसे बलपूर्वक एक मशीन चला रहा है और कोई थकान नहीं अनुभव कर रहा। उसी समय तार आता है कि उसका कोई प्रिय बन्धु संसारसे चल बसा। अब शरीरके वही सब अंग होते हुए मशीन चलाना तो दूरकी बात, उस शक्ति-शाली मनुष्यसे चला भी नहीं जाता। शरीरमेंसे कोई वस्तु निकाली नहीं गई किन्तु केवल मनके प्रभावसे उसका सारा शरीर बलिष्ठ अंगोंको रखते हुए निर्बल हो गया। अब इसके विपरीत उदाहरणपर दृष्टिपात करें- एक राजाकी लडाईमें हार होती है और राजा बंदी हो जाता है। शत्रु राजाको लोहेकी मोटी सलाखोंके दरवाजेवाले कटहरेमें बंद कर देता है। राजा अपनेको निर्बल समझते हुए विचार करता है कि इस कटहरेको तोडकर मैं बाहर नहीं जा सकता। रातभर इसी अवस्थामें बंद पडा रहता है। प्रातःकाल शत्रु राजाको विवश समझ कुछ कटु वाक्य कहता है, जिससे उत्तेजित हो वही राजा एकही झटकेमें कटहरेको तोड शत्रु दलपर टूट पडता है और अकेलेही बडी सैनापर विजय प्राप्त करता है। यह कोई काल्पनिक कहानी नहीं किंतु राजपुतानेमें घटित एक सच्ची घटना है।

इन दोनों उदाहरणोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्यके मनका प्रभाव शरीरपर पूर्ण रूपसे पडता है। अतः यज्ञचिकित्सा-में हम रोगीको जहां उसके अनुकूल अन्न और औषधि देते हैं और जहां खानेकी औषधिकी पहुंच नहीं वहां यज्ञमें औषधियां जला उनके सूक्ष्म परमाणु उसके शरीरमें पहुंचाते हैं, वहां उसके मनपर यह प्रभाव डालनेके लिये कि यज्ञचिकित्सासे वह अवश्य आरोग्य हो जावेगा। उसके शरीरके कीटाणुओंका नाश यज्ञ अवश्य करेगा, ऐसा वेदमें वर्णन है। वेदप्रभुकी अमृतवाणी है, वह झूट नहीं हो सकती। रोगीको आदेश करते हैं कि वह यज्ञ करते समय वेदमंत्रोंका उच्चारण करे। इन वेदमंत्रोंमें क्या वर्णन है और इसका प्रभाव उस रोगीके ऊपर जो अपने चिकित्सक, वेद, ईश्वर और यज्ञपर श्रद्धा रखता है, कितना उत्तम पड सकता यह दिखानेके लिये नीचे हम कुछ वेदमंत्र तथा गीताके श्लोक अर्थसहित देते हैं, जो यज्ञके समय पढे जाते हैं।

(१) 'विद्म वै ते जायन्य जानं यतो जायान्य जायसे। कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे।' (अथर्व० ७।७६।५) अर्थ- हे क्षयरोग! तेरे उत्पन्न होनेके विषयमें हम निश्चयसे जानते हैं कि तू जहांसे उत्पन्न होता है। तू वहां किस प्रकार हानि कर सकता है, जिसके घरमें हम विद्वान् नाना औषधियोंसे या रोग-नाशक हवि (सामग्री) को बना उससे अग्निहोत्र करते हैं?

(२) ' न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥१॥ विष्वञ्चस्त-स्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते। (अथर्व. १९।३८।१-२)

अर्थ- जिसके शरीर को रोगनाशक गूगलका उत्तम गंध व्यापता है उसको राजयक्ष्माका रोग पीडा नहीं देता! उसको दूसरेका निन्दावचन भी नहीं लगता। उससे सब प्रकारके राजयक्ष्मा रोग शीघ्रगामी हरिणोंके समान कांपते हैं, डरकर भागते हैं।

(३) ' सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् (भ. गी. ३।१०)

अर्थ-प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाको रचकर कहा कि इस यज्ञद्वारा तुम लोग वृद्धिको प्राप्त हो,

और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित कामनाओंका देनेवाला होवे ।

(४) देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (भ. गी. ३।११)

अर्थ- तुम लोग इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगोंकी उन्नति करें । इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर एक दूसरेकी उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे ।

(५) मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ (अथर्व. ३।११।१)

अर्थ- हे रोगी ! तुझको सुखके साथ चिरकालतक जीनेके लिये गुप्त राजरोगसे और प्रकट राजयक्ष्मा रोगसे आहुतिद्वारा छुडाता हूं । जो इस समयमें इस प्राणीको पीडाने या पुराने रोगने ग्रहण किया है, उससे वायु तथा अग्नि देवता इसको अवश्य छुडावें ॥

(६) यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव । तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ ' (अथर्व. ३।११।२)

अर्थ- हे रोगी! यदि रोगके कारण न्यून आयु-वाला हो अथवा इस संसारसे दूर हो गया हो चाहे मृत्युके निकटही आ चुका हो ऐसे रोगीको भी महा रोगके फंदेसे छुडाता हूं । इस रोगीको सौ शरद् ऋतुओंतक प्रबल किया है ॥

(७) सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् । इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥४॥

अर्थ- हे रोगी सहस्राक्ष औषधि गण द्वारा, शतवीर्य औषधि गण द्वारा, शतायु औषधि गण द्वारा प्रस्तुत आहुतिसे इस रोगको रोगीसे दूर किया है, विद्वान् जिस प्रकार इसको सौ वर्षतक सब दुःखोंको पार होकर प्राप्त होता है ।

(८) शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् । शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥४॥

अर्थ- हे रोगी! तू दिन प्रति दिन बढता हुआ सौ शरद् ऋतुओंतक, सौ हेमन्त ऋतुओंतक और सौ वसन्त ऋतुओंतक प्राणोंकी धारणा कर । वायु, तेज, सूर्य, आचार्य अथवा अनुभवी वैद्य यह सब देवता तुझे कई तरहसे इस तेरे शरीरको सौ वर्षतक जीवन स्थिर रखनेवाली (आहुतिद्वारा) ले जावें ।

(९) प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् । व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥५॥

अर्थ- हे व्याधिग्रस्त! श्वास तथा प्रश्वास ठीक तरहसे प्रवेश करें, रथ चलानेवाले दो बैलोंकी तरह अपने मार्गको और मृत्युके कारण दूर हो जावें । औरों को (विद्वान् लोग) सौ तरहका बताते हैं । आशय यह है कि जिस प्रकार बैलोंके सहारे रथ चलता है, उसी प्रकार जीवन श्वास प्रश्वासके सहारे और श्वास फेफडोंके सहारे है, अतः फेफडोंको ठीक रखनेसे मृत्युके अनेक कारण दूर हो सकते हैं । स्वास्थ्य अवस्थामें कपडे ठीक रखनेको शुद्ध वायुमें प्राणायाम करनेसे सहायता मिलती है । पर जब फेफडों ठीक रखनेमें क्षत हो जाते, तो वह हवन गैससे शीघ्र सूखते हैं । क्योंकि वह सीधी फेफडोंमें पहुंचाकर औषधिकी अपेक्षा शीघ्र प्रभाव करती है ।

(१०) इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् । शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥६॥

अर्थ- हे रोगी ! श्वास प्रश्वास दोनोंही इसी शरीरमें असमय मत दूर हों, किन्तु इस रोगीके शरीर तथा हस्तपादादि अङ्गोंको पूर्ण आयुपर्यन्त ले चलें ।

(११) जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा । जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥७॥

अर्थ- हे रोगी! वृद्धावस्थापर्यन्त तुझे सर्व प्रकारसे रक्षा करता हूं । वृद्धावस्थापर्यन्त तेरा पालन करता हूं । बुढापा तेरे लिये सर्व सुख प्राप्त करावे और मृत्युके कारण दूर हों । जिनका सौ अथवा कई तरहका (विद्वान् लोग) बतलाते हैं । अर्थात् इस यज्ञद्वारा पुरुष पूर्ण आयु भोगनेकी शक्ति प्राप्त करता है । तथा वृद्धावस्थामें भी इन्द्रियाँ इतनी शिथिल नहीं होती जिससे पुरुष सदा दुःखी रहे । अतः यज्ञ करनेवालेके मृत्युके अनेकों कारण नष्ट होते हैं ।

(१२) अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८॥

अर्थ- हे रोगी! दुर्बलताने तुझको बांधा है। इसीसे बलवान् बैलकी तरह बढते हुए व प्रसिद्ध होते हुए तुझको जिस मृत्युने अपनी दृढ शक्तिसे बन्धनमें किया है, तेरे उस मृत्युके बन्धनको सत्यके हाथोंके लिये आचार्य व परमात्माने (यज्ञ द्वारा) भली प्रकार छुडा दिया है।

(१३) अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥
(अथर्व. २।३३।१)

(हे रोगी! यज्ञद्वारा) तेरे आँखोंसे दोनों नासिकाओंसे कानोंसे ओष्ठोंके आधे भागसे शिरमें प्रभाव किये हुए मस्तिष्कसे जीभसे तेरे रोगको दूर करता हूं। अर्थात् यज्ञद्वारा इन सब अंगोंका रोग दूर हो जावेगा।

(१४) ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

हे रोगी! तेरी ग्रीवाओंसे रक्त संचार करनेवाली धमनियोंसे वक्षी वा जात्रुकी अस्थियोंसे ३३ प्रकारकी अस्थि-संधियोंसे दोषोत्पादक रोगोंको तेरे स्कन्धोंसे भुजाओंसे दूर करता हूं।

(१५) हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि॥३॥

हे रोगी! तेरे हृदयसे क्लोमसे श्वास संचालक मार्गोंसे दोनों पसलियोंसे वृक्को गुरदोंसे तिल्लीसे जिगरसे तेरे रोगको दूर करता हूं अर्थात् यज्ञसे इन सब अंगोंके रोग दूर होते हैं।

(१६) आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥४॥

हे रोगी! तेरी छोटी व बडी आंतोंसे (Tabes mesenterica) मल मूत्र प्रवर्तक मार्गोंसे उदरसे वीर्यधारक नाडियोंसे नाभिमंडलसे कुक्षिसे कुक्षसे तेरे रोगको दूर करता हूं। अर्थात् यज्ञद्वारा इन स्थानोंको रोग दूर होते हैं।

(१७) ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

हे रोगी! तेरे ऊरुओंसे,जानुओंसे,पाओंके ऊपर भागसे, पाओंके अग्रभागसे कमरमें विकार किये रोगको कमरके अधोभागसे गुप्त स्थानोंमें उत्पन्न हुये गुप्त रोगको गुप्त स्थानोंसे दूर करता हूं।

(१८) अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६॥

हे रोगी! तेरी हड्डियोंसे मज्जासे सूक्ष्म शिराओंसे स्थूल शिराओंसे हाथोंसे अङ्गुलियोंसे नाखनोंसे तेरे रोगको दूर करता हूं।

(१९) अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

जो तेरे अङ्ग अङ्गमें लोम लोममें सन्धि सन्धिमें रोग है, त्वचामें उत्पन्न रोग है, तेरे उस रोगको भी हम सर्वत्र व्यापक परमात्माके उपदेशसे (यज्ञद्वारा) दूर करते हैं।

पाठक विचार करें कि इन वेदमंत्रोंके साथ जो रोगी हवन यज्ञ करेगा और वह यह विश्वास भी रखता होगा कि वेदवाक्य कभी असत्य नहीं होता, तो क्यों न इसकी इच्छाशक्ति (will power) रोग दूर करनेमें सहायता करेगी? यक्ष्मारोगकी चिकित्सामें यज्ञके साथ अन्य क्या क्या साधन रोगीको उपयोगमें लाना चाहिये यह रोगी और चिकित्सकका विषय है। यहां हमें यही बताना था कि वेदमंत्रोंको पढकर हवन करना अपना विशेष प्रभाव रखता है।

तथा जो डॉक्टर पाश्चात्य प्रभावमें रंगे होनेके कारण यह कहते हैं कि पृथक् पृथक् अंगके यक्ष्मा होनेकी खोज केवल इस समय विदेशोंमें हुई है। उनको ज्ञात हो जावे कि वेदमें इतने विस्तारसे प्रत्येक अंगके यक्ष्मा होनेका वर्णन है और आर्य लोग इसे बहुत समझसे जानते थे और इस रोगकी इतनी वृद्धि होना पाश्चात्य सभ्यताकी देन अवश्य है।

जादूविद्या-रहस्य

(लेखक- प्राच्यजादू-सम्राट् रीसर्च स्कॉलर शिवपूजनसिंह कुशवाहा. ' पथिक, ' ' साहित्यालङ्कार, ' ' सा० रत्न, ' 'सा० शिरोमणि, ' ' सिद्धान्तभास्कर,' कानपूर)

जादू क्या है, यह प्रत्येक व्यक्तिको जाननेकी प्रबल इच्छा रहती है। जिस कामके करनेकी रीति दृष्टिगोचर न हो अथवा जो कार्य क्षणमात्रमें हो जाय, उसे ' जादू ' (Magic) कहते हैं। सृष्टिके साथ ही इसका जन्म हुआ है। सम्पूर्ण सृष्टिही जादूमय है और इसका प्रणेता एक बडा भारी जादूगर है। इस विश्वका कोई भी वस्तु रहस्यसे खाली नहीं है। आप प्रकृतिके किसी भी पदार्थको देखें और विवेचना करें तो आपको आश्चर्य ही आश्चर्य ज्ञात होता। उस महान् जादूगर (परमात्मा) की सर्वश्रेष्ठ संतान मनुष्य है। अतः सृष्टिकी आदिम कालसे ही मनुष्यमें जादूकी अभिरुचि है।

मानव-जातिके इतिहासमें चित्तको प्रफुल्लित करनेके लिए जादू सबसे पुराना साधन है। यह वह कला है जिसमें देश, काल, भाषा या उम्रका कोई बन्धन नहीं है। अपना प्रिय आर्यावर्त देश ही जादू-विद्याका गुरु है। लाखों वर्ष पूर्व यहीं इस विद्याका जन्म हुआ था और आशातीत उन्नति हुई थी। मुगल साम्राज्यके ह्रासके साथ ही साथ इस विद्याकी भी अवनति हो गई।

सांस्कृतीय समयमें इसका नाम ' योगकला ' था। हिंदूशास्त्रोंमें, बहुत स्थानोंपर इस कलाका विवरण पाया जाता है। इसे ' इन्द्र-जाल विद्या, ' छलित योग ' आदि नामोंसे भी पुकारते हैं। रामायण, महाभारत, योगवासिष्ठमें इसका वर्णन है। श्री शङ्कराचार्यजीके वेदान्त-दर्शनकी टीकाओंमें + इसका वर्णन है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। इसमें किसी भी प्रकारकी सृष्टिविरुद्ध बातें तथा तंत्रमंत्र जादूकी बातें नहीं हैं, फिर भी कतिपय प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् इस बातको मानते हैं कि ' अथर्ववेद ' में मारण, मोहन, उच्चाटन और जादू-विद्याका वर्णन है। यहाँ पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं—

पं० मैकडोनेल (A. A. Macdoneld) संस्कृतके और वैदिक साहित्यके अच्छे विद्वान् थे, पर उनकी सम्मतिमें अथर्ववेदमें बीमारियों आदिके हटानेके लिए जादूटोनेके अतिरिक्त कुछ नहीं है। ×

पं० विन्टर्नीज (Winternitz) की सम्मतिमें अथर्ववेदमें जादू टोना भरा पडा है और इसका विस्तारसे उन्होंने प्रदर्शन किया है। आप लिखते हैं—

"What at the first glance appears to us as a profundity is often in reality nothing but empty mystery-mongering, behind which there is more nonsense than profound sense; and indeed mystery-mongering and the concealment of reality under mystical veil, are part of the magicians' trade. ।" ॐ

पं. जे. एन. फरकुहर (J. N. Farquhar) की सम्मतिमें अथर्ववेद बना ही पुरोहितोंकी शिक्षाके लिये और उनको जादू सिखलानेके लिये। ⁂

मि० मूरकी सम्मतिमें अथर्ववेदमें जादूटोना आदि काफी

+ शारीरिक भाष्य १।३।१९; २।१।९; २।१।२८

× " Sanskrit Literature " by A.A. Macdoneld, p. 196

ॐ " A History of Indian Literature " by Winternitz, see p. 147.

⁂ " An Outline of the Religious Literature of India " by J. N. Farquhar, p. 23, sect. 25.

है, पर फिर भी आत्मा आदिपर उसमें दार्शनिक विचार हैं।

पाश्चात्य पण्डितोंका अनुगमन करते हुए आर्यावर्तके तीन विद्वानोंने भी अथर्ववेदमें जादू माना है।

श्री. चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम्. ए. (C. V. Vaidya) की सम्मति है कि- "अथर्ववेदके सूक्त प्रायः जादूटोनेसे भरे हुए हैं।" †

दासगुप्ताने मैक्डोनेलका ही एक उद्धरण देकर अथर्वको जादूसे भरा करार दे दिया है। ×

श्री. राधाकृष्णनूजी लिखते हैं- "The religion of the Atharva Veda is that of the primitive man to which the world is full of shapeless ghosts and spirits of death...।"

अर्थात् अथर्ववेदका धर्म प्रारम्भिक (primitive) लोगोंका है, जिनके लिये संसार अमूर्त भूतों और मरे लोगोंकी आत्माओंसे भरा पडा है। जब वह प्राकृतिक शक्तियोंके विरुद्ध असहाय पाता है, तो वह संसारको भूतनियोंसे भरा समझ लेता है, जो असन्तुष्ट होने पर मौत, बीमारियाँ, वर्षा आदिका न होना लाती हैं। अथर्ववेद असुर-गाथाओं (Demonology) से भरा पडा है।

विद्वद्वरेण्य पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय, एम्. ए. अपनी पुस्तक "अद्वैतवाद" (द्वितीय संस्करण, पृ० १२०) में लिखते हैं कि "लोगोंका विचार है कि अथर्ववेदमें राक्षसों, जादूगरों, स्याना याओझाओं, मोहन-मारण और उच्चाटन करनेवालों, तावीज, गंडा आदि पहननेवालों या झाडफूँक करनेवालोंका वर्णन है। हमारा विचार इससे सर्वथा विपरीत है। हम अथर्ववेदको भी उसी प्रकारकी धार्मिक पुस्तक मानते हैं, जैसे ऋग्वेद तथा अन्य वेदोंको। "आसुरी माया" कहने मात्रसे आजकल लोग राक्षसोंके माया-जालकाही अर्थ समझते हैं। कमसे कम उस समय तक जब उव्वट या महीधरने, यजुर्वेदका भाष्य रचा, लोगों में यह धारणा अवश्य थी कि वेदोंमें 'आसुरी माया' के यह अर्थ नहीं और न 'असुर' न 'माया' ही ऐसे घृणित अर्थों में प्रयुक्त होते थे। सायणके भाष्यसे भी यही पता चलता है। अथर्ववेदके कई मन्त्रोंके अर्थ इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं। वैदिक शब्दों के अर्थोंका जब तक भरपूर अन्वेषण न होगा, उस समय तक वैदिक साहित्यरूपी अग्नि भ्रमरूपी राखके नीचेही दबी पडी रहेगी।"

पौराणिक भाष्यकार श्री सायणाचार्य, श्री महीधराचार्य, श्री उव्वटाचार्य, विद्यानिधि पं० ज्वाला प्र० मिश्र प्रभृति सभी वेदमें मारण, मोहन, उच्चाटन, जादू मानते हैं।

प्रातःस्मरणीय वेदोद्धारक महर्षि दयानन्दजीकी दृष्टिमें अथर्ववेदमें मंत्र, तंत्र आदि नहीं है और आपने इसका खण्डन भी प्रबल वेगसे किया है। ÷

चतुर्वेद-भाष्यकार विद्वद्वर्य पं. जयदेवशर्मा 'विद्यालङ्कार' मीमांसातीर्थने अपने अथर्ववेद-भाष्यकी भूमिका-प्रकरणमें मंत्र, तंत्र, मारण, मोहन, उच्चाटन आदिकी विशद् आलोचना की है। पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि इस विद्याका वर्णन भारतीय धार्मिक ग्रन्थोंमें अवश्य पाया जाता है।

नालन्दा, तक्षशिला एवं अवन्तिपुरके विश्वविद्यालयों इस विद्याका बडा ऊँचा स्थान था। इस विद्याकी शिक्षाके लिये कतिपय बडे बडे विद्यालय भी थे, जहाँसे सैकडों जादूगर इस विद्यामें पारंगत हो देश-विदेशोंमें जाकर अपनी विजय-पताका फहराते थे। अब भी, विदेशी जादूगरोंके पास अनेकों भारतीय खेल हैं।

उन्नत देशोंमें जादूगरोंकी बडी बडी संस्थाएँ हैं, जहाँ इस कलाकी वृद्धिके उपाय दिन रात सोचे जाते हैं। यथा- मैजिसियन क्लब, लंदन (Magicians' Club, Landon) मैजिक सर्कल, लेसीस्टर (Magic Circle, Leicester), मैजिसियन क्लब टोकियो (Magicians' Club, Tokyo), मलाया मैजिक सर्कल (Malaya Magic Circle), इन्टरनेशनल ब्रदरहुड ऑफ मैजिसियन अमेरिका

† "History of Sanskrit Literature" by C. V. Vaidya, p.167.

× "History of Indian Philosophy" by Das Gupta, p. 12

"Indian Philosophy" by Radha Krishnan, vol. I, p. 119.

÷ 'सत्यार्थ-प्रकाश' एकादश समुल्लास, उन्नीसवाँ संस्करण, पृ० १७७

(International Brotherhood of Magicians, America) आदि।

और यह जादूका खेल पाश्चात्य देशोंमें उन्नतिके शिखर पर है। इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी आदि देशोंमें कुछ बडे बडे जादूगर हो गए हैं और अब भी हैं।

इन्होंने अपनी कलासे सम्पूर्ण विश्वको मुग्ध कर दिया है। उनकी इस कला देखनेका सौभाग्य इनेगिने भारतीयोंको ही हो सकता है। हाँ, समाचार पत्रोंमें अवश्य लोग पढ लेते हैं। विदेशी जादूगरोंमें कितने तो ऐसे हैं जिन्होंने अतुल सम्पत्ति पैदा कर ली है और उनका नाम अमर हो गया है। यहाँ कतिपय जादूगरोंके नाम दिये जाते हैं- जगत्-प्रसिद्ध पाश्चात्य जादू-सम्राट् हौडिनी (Robert Houdin), हॉवर्ड थर्स्टन (Howard Thurston), मेस्कोलिन (Maskelyene), हरमन (Hermann), टेन कात्सू (Ten katsu), लौंग टैक सम (Long Tack Sam); मि० इ. ए. डर्न (Mr. E. A. Dearn), विल गोल्डस्टन (Will Goldston), जॉन मुलहॉलेण्ड (John Mulholland); लॉवेल थॉमस (Lowell Thomas), चंग-लिंग-सू (Chung Ling Soo), कार्टर दी ग्रेट (Carter the Great); केलर (Keller); विलफ्रेड हबर्ड (Wilfred Hubbard); मि० एम्. डी. पी. जीलरॉय (Mr. M. D. P. Gilroy); मि. एच. मीलर (Mr. H. Miller); टोकूजो अबे (Tokuzo Abe); डॉ० टी. अगोटे (Dr. T. Ogata); यू. उहारा (U. Uehara); जॉन एच्. डेविसन (John H. Devison); डब्ल्यू. डब्ल्यू. डरबीन (W. W. Durbin); मि. जेनोस बार्टल ऑफ जर्मनी (Mr. Janos Bartl of Germany); कोल्टा (Kolta); ओकीटो (Okito); ब्रागा (Braga); नेलसन डॉन्स (Nelson Downs); कॉर्ले-हौर्जे; ओवेन क्लार्क; आर्थर शेरवुड, डेविड डेमान्ट, डेविड देवन्त (Devid Devant).

लाखों करोडों द्रव्य लगाकर जादूकी उत्तम संस्थाएँ तथा कम्पनियाँ खोल लेना विदेशी जादूगरोंकी सफलताका प्रमाण है।

यहाँ, आर्यावर्तमें यह बिलकुल सम्भव है, पर यहाँ उन देशोंकी अपेक्षा आर्थिक कठिनाईयाँ अधिक हैं। यदि कतिपय उदार धनी लोगोंकी सहायतासे शिक्षित लोग इधर ध्यान दें तो बहुत कुछ बेकारीकी समस्या हल हो जाय।

वर्तमान काल पराधीन और आर्थिक संकटयुक्त होते हुए भी इस भारतवर्षमें कई प्रसिद्ध जादूगर हैं। यथा— प्रो० एन्. पी. कोटी, के. डब्ल्यू. ई., सी. एस्., के. डब्ल्यू. ई.। आपकी झाँसीमें ' दी मैजिकल कम्पनी ' है जहाँसे आप खेलोंको बेचते तथा सिखलाते हैं। पं० सिद्धिनाथ झा बी.ए., डिप० एड०; ए० एम्० आर्० एस्. टी. (लंडन) एम्. सी. एल्. (इंग्लैण्ड); प्रो० पी. सी. सरकार, किंग ऑफ दी मॉडर्न मैजिसियन; प्रो० गणपतिजी, आपका प्रसिद्ध ट्रीक " इल्यूसन बॉक्स " (Illusion Box) है। आप 'बोस सरकस' में काम करते थे। मि० फ्रामरोज बावनजी बम्बई +, प्रो० एस्. एन्. राना; प्रो० राजारामजी, रॉयल मैजिसियन, टाटानगर; प्रो० एस. एस. शर्मा; माशूकअली लखनऊ, प्रो० कजानो दी ग्रेट, लखनऊ ◎, मैजिक मास्टर याकूब काशी; अब्दुल रहमान प्रभृति।

भारतमें और भी अनेकों जादूगर होंगे; परन्तु उनके नामोंसे मैं परिचित नहीं हूँ। कहते हैं कि गुरु गोरखनाथ स्यालकोटीने इन खेलोंका प्रचार अधिकतर बङ्गप्रांतमें किया। इसी कारण इसे ' खेल बङ्गाला ' के नामसे भी पुकारते हे। वर्तमान समयमें इसका कुछ अंश ढाका और कामरूप प्रांतोंमें अब भी विद्यमान है।

कुछ भोलेभाले लोग इस विद्याके सम्बन्धमें अनेक मत रखते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि भूत, प्रेत, पिशाच या जिन्न × जादूगरोंके पास होते हैं, जो उसकी आज्ञानु.

+ आप जादू-विद्याके हमारे श्रद्धास्पद गुरु हैं।— लेखक

◎ आप हमारे मित्र हैं — लेखक

× वास्तवमें भूत पिशाच कोई चीज नहीं, यह लोगोंका भ्रम मात्र है। वैदिक सच्छास्त्रोंमें इसका कोई वर्णन नहीं है। महर्षि दयानन्दजी महाराजने " सत्यार्थ-प्रकाश " द्वितीय समुल्लास, पं० तुलसीरामजी स्वामीने अपने ' भास्कर-प्रकाश ' में इसका खण्डन किया है— लेखक।

सार अलौकिक कार्य करते हैं। परन्तु हस्त-प्रवीणताके सिवा और कुछ नहीं है।

जादूका खेल बहुत ही सुगमतासे सिखा जा सकता है। इसमें केवल हाथकी सफाई, वाक्पटुताका होना अनिवार्य है। इसके लिए बी. ए., एम्. ए., पीएच्. डी. पास करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अंग्रेजी विद्या जाननेसे जादूगर आसानीसे सम्पूर्ण देशोंमें खेल दिखला सकता है और धनके अतिरिक्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर सकता है।

एक बात यह है कि इस समय इस विद्याकी अंग्रेजी पुस्तकें पढकर ही अध्ययन किया जा सकता है। हिन्दी भाषामें कोई अत्युत्तम पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है।

विल गोल्डस्टन (Will Goldston) की निम्न लिखित पुस्तकें अध्ययन करनेसे मनुष्य बहुत कुछ जादू-विद्या सीख सकता है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकोंके नाम 'More Exclusive Magical Secrets;'' "Great Magicians' Tricks"; "Great Tricks Revealed ;" Sensational tales of Mystery Men " " Tricks that Mystify "; "Easy Road to Magic "; " Tricks you should know"; " Tricks and Illusions "; " young Conjurer "; " More tricks and puzzles. "

प्रो० पी. सी. सरकार की लिखी हुई प्रसिद्ध पुस्तक " 100 Magics you can do " * आपकी लिखी हुई बङ्गला भाषामें ' मैजिक शिक्षा' भी अच्छी पुस्तक है।

कोई भी थोडा पढा लिखा युवक कुछ दिनोंके अभ्याससे अच्छा जादूगार बन सकता है। हमने पहिले ही बतला दिया है कि यह कार्य किसी विशेष शक्ति भूत, प्रेतादिके द्वारा नहीं होता है। आर्यजगतके सुप्रसिद्ध विद्वान्, मङ्गला-प्रसाद पारितोषिक विजेता पं० गङ्गा प्रसादजी उपाध्याय, एम्. ए. अपनी प्रसिद्ध पुस्तकमें × लिखते हैं— "आजकलके समान शंकराचार्यके समयमें भी जादूगर बहुत थे और लोग समझते थे कि वह विशेष शक्तिद्वारा ही चीजोंको उत्पन्न कर देते हैं। वह जादूको केवल हाथकी चालाकी नहीं समझते थे। आजकल साईंसके युगमें हमको हरएक बातकी पूरी मीमांसा करनेकी आदत हो गई है। आजकल कोई विद्वान् ऐसा नहीं मानता कि छूमंतर या जादूसे कोई चीज उत्पन्न हो सकती है। जिन्होंने जादूगरी सीखी है, या इस विषयमें जाँच की है, वह भली प्रकार जानते हैं कि जादूगर छूमंतरसे न तो किसी चीजको उत्पन्न करता है, न लुप्त कर सकता है। यह उसकी हाथकी चालाकी होती है कि सेब या नारंगी या रुपया या घडी आदिको ऐसा छिपाता है कि लोग जान न सकें। "

जादूगर बननेके लिये कुछ नियमोंका जानना परमावश्यक है। उन्हें प्रत्येक भावी जादूगरको याद रखना चाहिये ÷

१. आत्म-विश्वास- प्रत्येक जादूगरको अपने आपमें पूरा विश्वास होना चाहिये। उसे यह सोच लेना चाहिये कि मैं जब तक स्टेज पर हूँ, तब तक मैं ही सबसे अधिक जादू जाननेवाला हूँ और जो मैं खेल करूँगा उसका भेद कोई भी नहीं जानता। यदि उसमें थोडी भी घबडाहट आ गई, तो फिर खेलमें सफलता मिलनी टेढी खीर है।

२. वाक्पटुता- प्रत्येक जादूगरको बोलनेमें चतुर होना चाहिये। बोलनेकी शैली ही जादूकी जान है। जो जादूगर अपनी चुटकीली तथा सरस बातोंसे दर्शकोंको जितना ही प्रसन्न कर सकेगा, उसे अपने खेलोंमें उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी। इसीलिये कुछ उच्च शिक्षाका होना अनिवार्य है। जादूका खेल वास्तवमें हाथकी सफाई है, ' नजरबन्दी ' है, आँखोंको धोखा देनेकी कला है। जादूगर कहता है कुछ, करता है कुछ, लेकिन खेलमें ही। इसलिए दर्शकोंको मीठी और चटपटी बातोंसे बहलाना जादूगरका मुख्य काम है।

३. गोपन-क्रिया- प्रत्येक जादूगरको अपने खेलोंका रहस्य गुप्त रखना चाहिये। दर्शकोंसे पहले मत कह दो कि तुम क्या करने जा रहे हो।

४. जब तुम कोई हाथकी सफाईका काम करो, तब अपने हाथोंकी ओर न देखो, वरन् अपनी आँखोंसे तथा उस हाथसे, जिससे कोई काम नहीं ले रहे हो, ऐसा काम लो,

* यह पुस्तक ' सरस्वती लाइब्रेरी कालेज स्कायर, इस्ट, कलकत्तेसे प्रकाशित है।

× ' अद्वैतवाद '' द्वितीय संस्करण पृ० १००.

÷ यह नियम प्रो० सिद्धिनाथ झा, बी. ए. के ' बालक ' वर्ष ११ जून १९३७ ई. अङ्क ६ से लिये गये हैं— लेखक

जिससे दर्शकोंका ध्यान कुछ दूसरी ओर बँट जाय।

५. किसी खेलको दूबारा या एक ही तरहके कई खेलों-को एक ही बार मत करो।

६. पहले छोटे छोटे खेलोंको सफाईके साथ करो, उसके बाद बडे बडे खेलोंको।

७. किसी खेलको कई बार करनेके बाद ही तुम उसे सफलतापूर्वक कर सकोगे। पहले-पहल अवश्य कुछ भूलें हो जाया करेंगी, पर उनके लिए कभी घबडाओं या पछ-ताओ मत।

८. खेल आरम्भ करनेके पहिले खेलोंकी एक सूची तैयार कर अपने सामने रक्खो और उसी सूचीके अनुसार खेल करो। ऐसा न करनेसे कोई खेल छूट जाने तथा तुम्हारे घबडा जानेकी पूर्ण सम्भावना है।

९. बडे बडे नामी जादूगरोंके खेलोंको अवश्य देखा करो। उससे बहुत कुछ सीख सकते हो।

१०. खेलके लिये एक सुन्दर पर्दा बनाओ, जो भडकीला हो। एक सुन्दर टेबलक्लौथ (मेज-पोश) का भी रहना जरूरी है। यदि परदेके बाहर करना हो, तो टेबल आदि रखना भी आवश्यक है।

११. जादूगरको चुस्त काला कोट-पैन्ट (बढिया सूट) पहनना चाहिये। स्वच्छ पोशाकका दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पडता है।

१२. जादूगर और दर्शकोंके बीच कमसे कम ९ या १० फीटका अन्तर होना अनिवार्य है।

१३. अपने पीछे, दाहिने, बायें और आगे भी अत्यन्त निकट किसीको खडा न होने दे।

१४. जिस खेलका जबतक अच्छा अभ्यास न हो, तबतक उसको जनतामें दिखानेका साहस न करे।

१५. अपना खेल किसी निर्बुद्धि, घमण्डी मनुष्य तथा बालकोंको न सिखावे।

१६. अपने साथके व्यक्तियोंमेंसे ऐसे व्यक्तिको न रखो जो कौतुकके भेदको छिपा न सकता हो।

१७. खेल करते समय जो कुछ भी कहना हो, धीरे धीरे शांतिपूर्वक कहो। जब एक खेल समाप्त हो जाय, तब दो चार मिनिटके अन्तरसे अथवा बीचमें कोई हास्यरसकी बात कहकर दूसरा खेल प्रारम्भ करो।

जादूकी छडी

(Magic wand or Magic stick)

तमाशा करनेके समय जादूकी छडी हाथमें लिये आओ। जरासा झुक कर, उसी जादूकी छडीसे, दर्शकोंको अभि-वादन करो। इसके बाद जनतासे कहो— "सज्जनो! मैं आप लोगोंको कुछ जादूके खेल प्रदर्शित करना चाहता हूँ। मैं जो कुछ भी करूँगा, इसमें मेरी कुछ भी बहादुरी नहीं है। यहाँ जो कुछ भी आश्चर्यजनक कार्य होगा, वह सब इस जादूकी छडी (Magic Wand) के द्वारा ही होगा। मैंने यह छडी एक सिद्ध महात्माकी सेवा करके पायी है।"

लाभ- जादूकी छडी हाथमें रखनेसे कितने खेलोंमें बहुत सहायता मिलती है। जैसे कोई कोई खेल जिनमें हाथको कुछ ऊपर नीचे हिलाना पडता है, यदि मंत्रकी छडी पास हो तो जादू करनेके बहानेसे यह बात निबह जाती है, नहीं तो खाली हाथ हिलाना भद्दा और सन्देहजनक ज्ञात होता है। या किसी वस्तुको इधर उधर हटाना हो तो मंत्र की छडी उठानेके बहाने दर्शकोंकी दृष्टि बचकर, अपना काम निकल जाता है। यदि कोई वस्तु हाथमें छिपा रखा हो तो खाली मुट्ठी बांधनेसे लोगोंको सन्देह होगा, किन्तु जादूकी छडी हाथमें रखनेसे कोई सन्देह न करेगा।

कोई तमाशा दिखाना हो तो जादूकी छडीसे स्पर्श कर या ठोक कर दिखाना चाहिये। छडी काले रङ्गसे रङ्गी हुई १६ इंच लंबी और पतली हो।

यदि पुनः अवकाश मिला और पाठकोंकी इधर अभिरुचि हुई तो जादूके चकित करनेवाले अद्भुत खेलोंका दिग्दर्शन कराया जायेगा।

हमारे वैदिक ऋषियोंकी उपासना

(लेखक— श्री० विश्वनाथ धवन, बी.ए., हिन्दी ऑनर्स, सेवक आश्रम, देहरादून, यू. पी.)

मानव सभ्यताके प्रभात-कालकी ओर जब हम नजर उठाकर देखते हैं, तो उस समयकी सादगी, सरलता, और सौन्दर्यको देखकर हमारा मन विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। और इस सरलतामय सौन्दर्यमें एक गजबका आकर्षण है--साथ ही शक्ति है हमारे मनमानसकी भावना-लहरियोंको आडोलित करके क्षितिजके उस पार ले जानेकी। हमारे वैदिक ऋषियोंका अन्तःकरण शुद्ध था, अतः वह चिरन्तन एवं शाश्वत शक्ति जो इस समग्र संसार गति, जीवन-स्पन्दन और चेतना प्रदान कर रहा है-उसके साथ साक्षात् करनेमें हमारे वैदिक ऋषि समर्थ हुए थे।

किन्तु अब तो सादगीका स्थान आडम्बर, एवं सरलताका स्थान बनावटने ले लिया है। फलतः हम उस चिरन्तन सत्तासे दूर हो गये हैं- यह दूरी और यह व्यवधान कितना है, शायद इसको जानना हमारे लिये सम्भव नहीं। परन्तु इतना स्पष्ट है कि परमात्माको पानेका वह पहलेकासा प्रबल उत्साह हममें नहीं। अब तो हमारे शब्दोंमें, विचारोंमें, भावनाओंमें सरलतापूर्ण सौन्दर्य नहीं, वरन एक धोखा देनेवाला छलछद्म है। हां, एक चीजमें हमने उन्नति जरूर की है और वह यह कि अब हम अपनी बेमतलबकी भावनाओंको एक वाग्विलास-विभूषित रूपमें प्रस्तुत करना जान गये हैं। परन्तु वास्तवमें क्या है ? हमारे विचार किताबोंसे इकट्ठा किये हुए हैं। हमारा ज्ञान मौलिक नहीं, बलके सेकिन्ड हैन्ड है। इन्हीं उधार लिये गये विचारोंको हम दूसरोंमें बाटते फिरते हैं। किसी प्रत्यक्ष अनुभूतिका परिणाम न होनेसे इन विचारोंमें तरोताजगी नहीं, इसीलिये उनमें दूसरोंकी हृदय-वीणाके तारोंको झंकृत कर देनेकी सामर्थ्य नहीं।

सूर्य भगवान् नित्य पूरबसे उदय होकर पश्चिममें अस्त हो जाते हैं; उद्धत पर्वतशृङ्ग बडे प्रेमसे नीलाम्बर-रमणीका चुम्बन करते हैं; ज्योत्स्ना बडे आह्लादसे जमीनको आसमान और आसमानको जमीनसे मिलाती हुई दिखलाई पडती है; खिलखिलाकर हंसते हुए फूल अपनी खुशबू चारों तरफ बखेरते हैं; हिलते हुए वृक्षोंके पत्ते और झूलती हुई लताओंमें वीणाकासा लय प्रतीत होता है, हवामें झूमती हुई पेडोंकी कतारें हृदयको छूनेको प्रयत्न करती हैं। परन्तु अफसोस ! यह सब यूं ही हो जाता है। प्रकृतिके प्राङ्गणमें होनेवाले यह दृश्य हमारे उर-अन्तर में अनोखे भावोंकी सृष्टि नहीं करते। प्रकृति पटीके क्रिया-कलापों के पीछे एक अनंत शक्ति अनंत रूपोंमें अपना वैभव-विलास प्रदर्शित कर रही है। परन्तु हमारे लिये प्रकृति निर्जीव है, उसके दृश्योंको देखनेके लिये हमारे पास आंखें नहीं; उसके शब्दोंको सुननेके लिये हमारे पास कान नहीं।

आह ! कितने अच्छे थे वे दिन जब प्रकृति व मनुष्यके बीच एक अविभाज्य सहानुभूति थी, एक कभी न टूटनेवाला सम्बन्ध था। हमारे वैदिक ऋचाओंके द्रष्टा ऋषिको प्रकृतिमें एक अनंत सत्ताकी आनंदानुभूति होती थी, वह एक उमडते हुए आह्लादका अनुभव करता था और असीसकी इस साक्षात् आनन्दानुभूतिको उसने छन्दोंके सुन्दर पिटारोंमें हमारे लिये रख भी तो छोडा है। अभी तो वैदिक मन्त्रोंके एक एक शब्दमें कभी न खत्म होनेवाला माधुर्य भरा हुआ है। आज भी उसके मीठेपनका हम वैसा ही अनुभव कर सकते हैं।

परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि वेद ये अनेक देवताओंकी स्तुतियां हैं। यह वेदोंका बहुवाद है, परन्तु वास्तवमें यह एक देववाद है— इन अनेकताओंमें एकताको देखनेका सबसे सुन्दर प्रयत्न वैदिक धर्मने किया। वैदिक ऋषिने कडकती हुई बिजलीमें रुद्र-देवताकी हुंकार सुनी; सूर्यनारायण कि जो उजालेकी वर्षा करते हुए उदय होते हैं, उसमें ब्रह्मकी जाज्वल्यमान ज्योतिको देखा, एवं उसमें विष्णु भगवान्‌को देखा। वह विष्णु भगवान् जो कि तीन पादसे त्रिलोकीको नाप रहे हैं— " इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् "। (ऋ. १।२२।१७)

आजके हमारे मस्तिष्क-महारथी जो हर चीजकी खूबसूरती को अपनी दिमागी दुरबीनसे तबाह करनेकी कोशिश करते हैं-उनके लिये वेद साधारण गीतोंका संग्रह है। परन्तु सारी दुनियाकी

अक्रमंदीके ये ठेकेदार वेदोंके अमर काव्यकी सुन्दरताको देख नहीं सकते। भक्तका हृदयरूपी प्याला जब किन्हीं विवश और विह्वल बना देनेवाली भावनाओंके ज्वारभाटेमें लबरेज हो जाता है, तब उसके विचारोंकी कुछ रस बून्दें बरबस बाहर आ निकलती हैं — इन्हीं रसबून्दोंके गागरमें जिनमें भावनाओंको बेबस और बेताब बना देनेवाला सागर भरा है–उन्हींको तो हम मन्त्र, स्तोत्र, गीत और भजन कहते हैं। भक्तका मनमानस परमात्मा चांदको देखकर आन्दोलित हो उठता है। भगवद्भक्तिपरिपूरित गीत और उद्गारही इस संसारके लिये कलकलवाहिनी मन्दाकिनी है, जिसके शीतल सलिलमें अपने मनको अभिषिक्त कर हम अपनेको पवित्र और शुद्ध बना सकते हैं। परन्तु कव्वे और बगुलोंकीसी दुर्बुद्धि रखनेवाले लोग यदि इस अमृत-परिपूरित मन्दाकिनीका लाभ न उठा सके, तो यह उनका दुर्भाग्य !

ईश्वरसे प्रार्थना है कि विश्व-संगीतको, वेदोंके अमर गायनको हम सही गानोंमें समझें। फिर एक नई साध चेतना तथा चेष्टा का हमारे जातीय जीवनमें प्रादुर्भाव हो। हम पुनः वैदिक धर्म की विजय-वैजयन्तीको समग्र वसुन्धरामें फहराते हुए अपनी प्राचीन की गौरव-गरिमाभी प्रतिभासित करें।

रीवां-नरेशकी आत्मकथा

मैंने अपने आत्म-सम्मानके साथ कोई सौदा नहीं किया। भारत-सरकारके राजनैतिक विभागकी शरण जानेसे दृढतापूर्वक इनकार करता रहा। यह सजा उसकी कीमत है। मैं प्रसन्न हूँ। मेरी प्रजाकी भलाई, जिसके लिए मैंने इतने संकट झेले हैं, सदा मुझे प्रिय रहेगी। अपनी बान्धवीय प्रजाकी भलाई और उन्नतिके लिये मैं सदा परमात्मासे प्रार्थना करता रहूँगा।

मैंने अपने विचारोंको प्रगतिशील रखा। राज्यमें सुधार जारी करनेको सदा उत्सुक रहा। अपनी प्रजाकी सामाजिक, आर्थिक और शिक्षण संबन्धी उन्नतिके लिये प्रयत्नशील रहा। इससे राजनैतिक विभाग मुझसे अप्रसन्न हो गया। भारतीय नरेशोंमें मैं बागी समझा जाने लगा।

मैंने अपने राज्यके किसानोंको लगानमें उदारतापूर्वक बार बार छूट दी, तकावी कर्ज दिये, नई सडकें बनवायीं, नये पुल बनवाये, हरवाई प्रथाके रूपमें सदियोंसे चली आ रही गुलामोंकी खरीदफरोख्त बन्द की, हरिजनोंको समानाधिकार देकर छुआछूतका दोष हटाया, एक कालेज, दो हाई स्कूल और अनेक मिडिल तथा प्रायमरी स्कूल खोले।

मैंने यह कभी बरदाश्त नहीं किया कि राजनैतिक विभाग मेरे शासनमें अनुचित हस्तक्षेप करे। उसके वहमी, मनमाने नादिरशाही फरमानों की अवज्ञा करनेके लिए मैं सदा तैयार रहा। राजनैतिक विभागके देवता, मेरी इस स्वाधीन वृत्तिसे अधिक क्रोधित हो उठे। फरवरी १६ सन् १९४२ को, मुझे कई मामलोंमें उलझा दिया गया, मेरे शासनाधिकार छीन लिये गये, राज्यसे निकल जाने और बिना हुक्मके वापस न आनेका हुक्म दे दिया गया।

राजनैतिक विभागकी इस आज्ञाके विरुद्ध रीवांकी प्रजाने आवाज उठाई। किन्तु व्यर्थ! मैंने सरकारको चुनौती दी कि वह मेरे खिलाफ आरोपोंको सिद्ध करे। विशेष अदालतमें मेरा मुकदमा चला। अन्तमें मैं निर्दोष बरी कर दिया गया। इस रिहाईके बाद भी, मुझे राज्यमें लौट आनेकी आज्ञा तबतक नहीं दी गई जबतक मैं राजनैतिक विभाग द्वारा लादी गयी कुछ शर्तें मंजूर नहीं कर लीं। अपनी प्रजाकी भलाईके लिये मैंने यह कडवी घूंट पी ली। सम्राट्के प्रतिनिधि की मरजी मानकर अगस्त १९४४ में अपने राज्यमें वापस लौटा।

मैंने राज्यमें लौटनेपर देखा कि राज्यके अधिकारियों द्वारा प्रजाके हितोंकी निर्मम उपेक्षा की जा रही है। इन अफसरोंमें अधिकांश राजनैतिक विभागके नामजद आदमी थे। राज्यपर भारी खर्च लाद दिया गया था। नैतिक पतन और घूसखोरी फैल गई थी, प्रजाके साथ 'सौतेली मां' जैसा व्यवहार, रीवांके बाहरके अधिकारियों द्वारा किया जा रहा था। गडबड झाला, अव्यवस्था और निरंकुशताका बोलबाला था। मुझसे यह सब सहा नहीं गया। इस दशामें मैंने तत्काल बन्द कर देना चाहा। मगर मेरा विरोध दाब दिया गया। राजनैतिक विभागने मेरी सदिच्छाओंको गलत रंग दिया और मुझे सलाह दी गई कि मैं राज्यशासनमें हस्तक्षेप न करूं। 'अपने' मन्त्रिमण्डलके मंत्रियोंके कार्यमें दखल न दूं।

बादमें मुझसे, अपने राज्यके 'देश-घातक' जमींनदारोंमेंसे दो को मंत्रिमंडलमें नियुक्त करनेकी स्वीकृति चाही गई। मैं चूंकि राज्यके शासनको शांतिपूर्व चलने देना चाहता था, अतः इस नियुक्तिकी स्वीकृति अनिच्छासे दे दी।

राजनैतिक विभाग, मुझे, एक पुतलेकी तरह, मन्त्रि-मण्डल द्वारा मेरे सामने पेश किये गये कागजोंपर दस्तखत करके "ओकी मार्का" लगाकर स्वीकृति दे देनेके लिए रखना चाहता था। मन्त्रि-मण्डल, मेरी इच्छाओंका जरा भी आदर नहीं करता था। मेरे सुझाव किसी दिखावे के बिना अमान्य कर दिये जाते थे।

मेजर स्मिथ प्रधान मंत्री थे। पहले आप नाभा राज्यमें थे। आपने ४ लाख रुपयेके दो पुल बनानेके ठेके अंग्रेजी दूकानको दे दिये। यह कार्य मेरी रायके खिलाफ और बिना 'टेण्डर' मंगाये कर दिया गया।

राज्यके प्रायमरी शालाओंका जाल बिछा देने और अनिवार्य शिक्षा जारी रखनेके मेरे प्रस्तावको भी मंत्रि-मंडलने धता बता दिया।

मुझपर लगाया गया यह आरोप झूठ है कि मैंने अपनी निजी बचतका हिसाब देनेमें अनिच्छा प्रकट की। पिछले २० वर्षोंकी मेरी बचत अंग्रेजी बैंकों में जमा है। मुझसे १ दिसम्बर १९४५को हिसाब पेश करनेको कहा गया। किन्तु इतने कम समयकी सूचनापर विस्तृत हिसाब देनेसे बैंकने इन्कार कर दिया। राजनैतिक विभागने मीयाद बढानेकी मेरी प्रार्थना ठुकरा दी। इसके बाद भी मुझपर यह इलजाम है कि मैंने शाही प्रतिनिधिको दिये गये आश्वासनका परिपालन नहीं किया।

प्रजाको उत्तरदायी शासन प्रदान करनेकी जो घोषणा मैंने की थी, वह समयके तकाजे और प्रजाकी आवश्यकता का परिणाम था।

नये ग्रंथ

१ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन

श्रीमद्भगवद्गीतामें राज्यशासनसंबंधी जो निर्देश हैं, उनका स्पष्टीकरण करके भागवत राज्यशासनका स्वरूप बतानेवाले देख निबंध। मूल्य २) डा० व्य० ।≠)

२ ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(१) **मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन** । मूल्य १) डा० व्य० ।−)
(२) **मेधातिथि** ,, ,, मूल्य २) डा० व्य० ।≠)
(३) **शुनःशेप** ,, ,, मूल्य १) डा० व्य० ।−)
(४) **हिरण्यस्तूप** ,, ,, मूल्य १) डा० व्य० ।−)
(५) **कण्व** ,, ,, (छप रहा है)

वेद-मन्त्रोंका अध्ययन कीजिये।

वेद के पठनपाठन की परंपरा पुनः शुरू करनी है। इस कार्य के लिये हमने पाठ्य पुस्तकें बनायी हैं और इन पुस्तकों का अध्ययन अनेक नगरोंमें अनेक सज्जनोंने शुरू किया है।

१ **वेदपरिचय** परीक्षा १०० मंत्रोंकी पढाई । मू. ४॥) डा. व्य.॥।)
२ **वेदप्रवेश** परीक्षा ५०० " " मू. ५) डा. व्य.॥।)

इन पुस्तकोंमें अखण्ड सूक्त, मन्त्र-पाठ, पदपाठ, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, टिप्पणी, विशेष स्पष्टीकरण, सुभाषित, पुनरुक्त मन्त्र, विस्तृत प्रस्तावना, मंत्रसूची आदि अनेक सुविधाएं हैं।

यदि आपको अपने धर्मका अच्छी प्रकार अध्ययन करना है, तो आप

वैदिक सम्पत्ति

पुस्तक मंगवाईये। मूल्य ६) रु० और डा० व्य० १) रु है। यह पुस्तक आप प्रारंभसे अन्ततक पढिये। एक बार अथवा दो बार पढिये। एक बार यह पुस्तक आप पढेंगे, तो इसे आप छोड नहीं सकते। यह पुस्तक आपके साथ आजन्म रहने योग्य है। डा० व्य० सहित ७) सात रु० म० द्वारा भेजकर पुस्तक मंगवाइये। शीघ्रता कीजिये।

-मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

*

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(४)

हिरण्यस्तूप ऋषिका दर्शन

(उसके पुत्र अर्चन् ऋषिके मंत्रोंके समेत)

(ऋग्वेदका सप्तम अनुवाक)

लेखक

भट्टाचार्य पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

अध्यक्ष स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

संवत् २००३

मूल्य १) रु०

हिरण्यस्तूप ऋषिका दर्शन

ऋग्वेदके सप्तम अनुवाकमें हिरण्यस्तूपके ७१ मंत्र हैं, नवम मण्डलमें २० हैं और दशम मंडलमें उसके पुत्र अर्चन् ऋषिके ५ मंत्र है। सब मिलकर ९६ मंत्र इसके दर्शनमें हैं। इनका ब्यौरा ऐसा है—

ऋग्वेद-प्रथम मण्डल

सप्तम अनुवाक

हिरण्यस्तूप ऋषिः	देवता	मंत्रसंख्या	
सूक्त ३१	अग्निः	१८	
३२	इन्द्रः १५		
३३	,, १५	३०	
३४	अश्विनौ	१२	
३५	सविता	११	
			७१

नवम मण्डल

सूक्त ४	पवमानः सोमः	१०	
६९	,, ,,	१०	
			२०

दशम मण्डल

अर्चन् हैरण्यस्तूपः

सूक्त १४९	सविता ५	५

कुलमन्त्रसंख्या ९६

देवतानुक्रमसे मन्त्रसंख्या इस तरह होती है—

१ इन्द्रः	३०
२ सोमः	२०
३ अग्निः	१८
४ सविता	१६
५ अश्विनौ	१२
कुल-मंत्रसंख्या	९६

पांच देवताओंके मंत्र इस ऋषिके दर्शनमें आये हैं। हिरण्यस्तूपका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मणमें इस तरह आता है—

' इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचमिति सूक्तं शंसति। तद्वा एतत्प्रियं इन्द्रस्य सूक्तं निष्कैवल्यं हैरण्यस्तूपं, एतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आङ्गिरस इन्द्रस्य प्रियं धाम उपागच्छत्, स परमं लोकमजयत्।'

(ऐ. ब्रा. ३।२४)

अग्निर्देवतानां, हिरण्यस्तूप ऋषीणां, बृहती छन्दसां० ॥ (श. ब्रा. १।६।४।२)

'इन्द्रस्य नु वीर्याणि' यह सूक्त (ऋ. १।३२) है। यह इन्द्रका बडा प्रिय काव्य है, यह अंगिरस गोत्रमें उत्पन्न हिरण्यस्तूप ऋषिका है। इस सूक्तके पाठसे उसने इन्द्रका प्रिय धाम प्राप्त किया, और उससे भी श्रेष्ठ लोक प्राप्त किया।' इस तरह हिरण्यस्तूप ऋषिका यह (ऋ. १।३२ वाँ) सूक्त है ऐसा ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है। शतपथमें ऋषियोंमें हिरण्यस्तूप ऋषि प्रशंसित हुआ है ऐसा कहा है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें येही इस ऋषिके नामके उल्लेख हैं। निम्नलिखित मंत्रमें इस ऋषिका नाम आता है—

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्। एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्।

(ऋ. १०।१४९।५)

'(मेरे पिता) आंगिरस गोत्रमें उत्पन्न हुए हिरण्यस्तूप ऋषिने सविता देवका जैसा काव्यगान किया था वैसा ही मैं (उसका पुत्र) अर्चन् ऋषि आपकी उपासना करता हूं।'

यहां अर्चन् ऋषिने अपना नाम जैसा कहा है वैसाही अपने पिताका और अपने गोत्रका भी नाम कहा है। इसके अतिरिक्त मंत्र और ब्राह्मण-भागमें इस ऋषिका नाम कहीं भी नहीं है।

सूर्यका आकर्षण

सूर्यके आकर्षणसे पृथ्वी रहती है यह पदार्थ विद्याका नियम ातानेके लिये निम्नलिखित मंत्र पेश किये जाते हैं-

ा कृष्णेन रजसा वर्तमानः निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
(ऋ. १।३५।२)

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्।
(ऋ. १०।१४९।२)

वारंवार ये मंत्र सूर्यका आकर्षण सिद्ध करनेके लिये पेश केये जाते हैं। परंतु इनका अर्थ यह आशय नहीं बताता, यह ात इस स्थानमें दिया अर्थ स्पष्ट रीतिसे सिद्ध करता है। **कृष्णेन रजसा आ वर्तमानः**) काले अन्धकारसे वेष्टित ुआ, अन्धकारसे युक्त, ऐसा इसका अर्थ है । (**सविता न्त्रैः पृथिवीं अरम्णात्**) सविता सूर्य देव अपने स्वाधीन रखनेके साधनोंसे पृथ्वीको स्थिर करता रहा। यहां कुछ आकर्षण सा प्रतीत होता है, परंतु इस मंत्रमें आगेही (**सविता अस्कंभने द्यां अदृंहत्**) सविताने निराधार आकाशमें द्युलोकको स्थिर किया। इसमें द्युलोकको स्थिर करनेका भी उल्लेख है। परंतु हम जानते हैं कि द्युलोक करके पृथ्वीके समान कोई स्थान नहीं है। इसलिये यह वचन और पूर्व-स्थानमें दिया वचन कोई शास्त्रीय सिद्धान्त प्रकट करनेके लिये नहीं कहे गये हैं। सर्व सामान्य वर्णन ही यहाँ है । इसको गुरुत्वाकर्षण परक लगाना योग्य नहीं है।

इस तरह इस ऋषिके ये सूक्त पाठकोंके सामने रखे जाते हैं। आशा है कि जो ज्ञान इस ऋषिने इन सूक्तोंसे पाया, वह पाठक भी प्राप्त करेंगे।

निवेदन-कर्ता

चैत्र शु. १५, सं. २००३ **श्री० दा० सातवळेकर**

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि. सातारा)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

हिरण्यस्तूप ऋषिका दर्शन

(उसके पुत्र अर्चन् ऋषिके मंत्रोंके समेत)

[ऋग्वेदका सप्तम अनुवाक]

(१) सबका परम पिता परमात्मा

(ऋ. १।३१) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । अग्निः । जगती; ८,१६,१८ त्रिष्टुप् ।

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १ ॥
त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम् ।
विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे ॥ २ ॥
त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते ।
अरेजेतां रोदसी होतृवूर्येऽसघ्नोर्भारमयजो महो वसो ॥ ३ ॥
त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः ।
श्वात्रेण यत् पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः ॥ ४ ॥
त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः ।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुरग्रे विश आविवाससि ॥ ५ ॥
त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे ।
यः शूरसाता परितक्म्ये धने दभ्रेभिश्चित् समृता हंसि भूयसः ॥ ६ ॥
त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे ।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥ ७ ॥
त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।
ऋध्याम कर्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥ ८ ॥
त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद् बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे ॥ ९ ॥

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पिताऽसि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् ।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य ॥ १०
त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम् ।
इळामकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत् पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ११
त्वं नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य ।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्यनिमेषं रक्षमाणस्तव व्रते ॥ १२
त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे ।
यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन् मन्त्रं मनसा वनोषि तम् ॥ १३
त्वमग्न उरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद् रेक्णः परमं वनोषि तत् ।
आध्रस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता प्र पाकं शास्सि प्र दिशो विदुष्टरः ॥ १४
त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ॥ १५
इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन् मर्त्यानाम् ॥ १६
मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे ।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥ १७
एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत् ते चकृमा विदा वा ।
उत प्र णेष्यभि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या ॥ १८

अन्वयः- हे अग्ने ! त्वं प्रथमः अङ्गिरा ऋषिः, देवानां देवः, शिवः सखा अभवः । तव व्रते कवयः, विद्मना-अपसः भ्राजत्-ऋष्टयः मरुतः अजायन्त ॥ १ ॥

हे अग्ने ! त्वं प्रथमः अङ्गिरस्तमः कविः देवानां व्रतं परि भूषसि । विश्वस्मै भुवनाय विभुः, मेधि-रः, द्विमाता, आयवे कतिधा चित् शयुः ॥ २ ॥

हे अग्ने ! त्वं प्रथमः, सुक्रतुया विवस्वते मातरिश्वने आविः भव । हे वसो ! रोदसी अरेजेताम् । होतृवूर्ये भारं असघ्नोः । महः अयजः ॥ ३ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! तुम पहिले अङ्गिरा ऋषि थे । तुम देवोंके देव और शुभ मित्र थे । तुम्हारा ही कार्य करनेके लिये ज्ञानी, कार्य पद्धति जाननेवाले मरुद्गण तेजस्वी शस्त्र लेकर प्रकट हुए थे ॥१॥

हे अग्ने ! तुम पहिले अङ्गिरसोंमें मुख्य कवि (होकर) देवोंका कार्य सुशोभित करते हो ! तुम सब भुवनोंमें विभु हो, तुम बुद्धिमान और द्विज रूप (दो माताओंसे उत्पन्न, एक जन्मदात्री माता और दूसरी सरस्वती विद्यामाता, इनसे उत्पन्न) होकर, मनुष्यमात्रके (हितके) लिये कई प्रकारोंसे सर्वत्र वर्तमान रहते हो ॥२॥

हे अग्ने ! तुम (विश्वमें) पहिले हो, उत्तम कर्म करनेकी कुशलताके साथ सूर्य और वायुके लिये (सामर्थ्य बढानेके लिये) प्रकट हुए हो। हे सबके निवासकर्ता देव! (तुम्हारी शक्ति देखकर भयसे) द्युलोक और पृथिवी भी कांप उठती हैं। (यज्ञमें) होताके वरण करनेके समय तुम ही (सब यज्ञका) भार उठाते हो। (और तुमने) महनीय (देवों) के लिये यजन किया है ॥३॥

हे अग्ने ! त्वं मनवे द्यां अवाशयः । सुकृते पुरूरवसे सुकृत्तरः । यत् पित्रोः श्वात्रेण परि मुच्यसे, (तत्) त्वा पूर्वं आ अनयन्, पुनः अपरं आ (अनयन्) ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तुमने मनुष्यमात्रके हितके लिये द्युलोकको निनादित (शब्दमय) किया । पुण्य कर्म करनेवाले पुरूरवाके लिये, तुमने अधिक शुभ कर्म किया था। जब मातापिताओंसे शीघ्र-ही तुम मुक्त (दूर) हुए, (तब) तुम्हें पूर्व (ब्रह्मचर्य आश्रममें पहिले) ले गये, पश्चात् दूसरे (गृहस्थ आश्रम)में ले गये थे॥४॥

हे अग्ने ! त्वं वृषभः पुष्टिवर्धनः उद्यतस्रुचे श्रवाय्यः भवसि। यः वषट्कृतिं आहुतिं परि वेद, (सः त्वं) एकायुः विशः अग्रे आविवाससि ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! तुम बडा बलिष्ठ और (सबका) पोषण करनेवाला हो । तुम यज्ञ करनेवालेके लिये स्तुति करने योग्य हो। जो वषट्कारपूर्वक आहुति देना जानता है (उसके लिये तुम) संपूर्ण आयु देते हो और सब प्रजाओंमें प्रथम स्थानमें उसको निवास कराते हो ॥५॥

हे विचर्षणे अग्ने ! त्वं वृजन-वर्तनिं नरं सक्मन् विदथे पिपर्षि । यः परितक्म्ये धने शूरसाता दभ्रेभिः चित् समृता भूयसः हंसि ॥ ६ ॥

हे विज्ञानवान् अग्ने ! तुम दुराचारमें रहनेवाले मनुष्यको भी (अपने) साथ रहनेपर युद्धमें बचाते हो । जो (यह तुम) चारों ओरसे छिडनेवाले और जहाँ केवल शूरोंका ही काम है ऐसे घोर युद्धमें अल्पसंख्य और वीरताहीन मानवोंसे युद्धके लिये मिले हुए बहुसंख्य शत्रुओंका भी वध करते हो ॥६॥

हे अग्ने ! त्वं तं मर्तं दिवेदिवे श्रवसे उत्तमे अमृतत्वे दधासि । यः उभयाय जन्मने तातृषाणः, (तस्मै) सूरये मयः प्रयः च आ कृणोषि ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! तुम उस (भक्त) मनुष्यको प्रतिदिन यशस्वी बनाते हुए उत्तम अमरपदपर चढाते हो । जो (द्विजत्व सिद्धिके) दोनों जन्मोंमें (यशस्वी होनेके लिये) पिपासु रहता है, (उस) ज्ञानीके लिये तुम समृद्धि और श्रेय देते हो ॥७॥

हे अग्ने ! स्तवानः त्वं नः धनानां सनये यशसं कारुं कृणुहि । नवेन अपसा कर्म ऋध्याम । हे द्यावापृथिवी ! देवैः नः प्र अवतम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने ! (तुम्हारी) स्तुति करनेपर तुम हमारे लिये धन दान, यश और कारीगरी प्राप्त करा दो। (हम) नूतन कर्मसे (पूर्व) कर्मकी वृद्धि करेंगे । हे द्यावा-पृथिवी ! देवोंकी शक्तियोंके (साथ) हमारी सुरक्षा करो ॥८॥

हे अनवद्य अग्ने ! देवेषु जागृविः, त्वं पित्रोः उपस्थे नः तनूकृत् आ बोधि । हे कल्याण ! कारवे प्रमतिः, त्वं विश्वं वसु आ ऊपिषे ॥ ९ ॥

हे निर्दोष अग्ने ! तुम सब देवोंमें जागरूक (अर्थात् सावध) हो, तुम हमारे मातापिताओंके समीपमें हमारे शरीर निर्माण करते हो। हे कल्याण करनेवाले ! कारीगरके लिये विशेष बुद्धि देकर, तुम (उसको) सब धन देता है ॥ ९ ॥

हे अग्ने ! त्वं प्रमतिः, त्वं नः पिता असि । त्वं वयस्कृत्, वयं तव जामयः । हे अदाभ्य ! सुवीरं व्रतपां त्वा शतिनः सहस्रिणः रायः सं सं यन्ति ॥ १० ॥

हे अग्ने ! तुम विशेष बुद्धिमान हो, तुम हमारे पिता हो, तुम हमें आयु देता है, हम तेरे बन्धु हैं । हे न दबनेवाले देव ! उत्तम वीरोंके साथ रहनेवाले और नियमोंका पालन करनेवाले तुम्हारे पास सैकडों और सहस्रों धन पहुंचते हैं ॥ १० ॥

हे अग्ने ! देवाः आयवे प्रथमं आयुं नहुषस्य विश्पतिं अकृण्वन् । मनुषस्य शासनीं इळां अकृण्वन् । यत् ममकस्य पितुः पुत्रः जायते ॥ ११ ॥

हे अग्ने ! देवोंने मानवके लिये सबसे प्रथम आयु (दी, पश्चात् उन्होंने) मानवोंके लिये प्रजापालक राजा निर्माण किया। तब मनुष्योंके शासन (व्यवस्था)के लिये (धर्म) नीतिको भी निर्माण किया । जैसा पिताके ममत्वरूप (औरस) पुत्रका जन्म होता है (वैसा आत्मीयतासे राजा प्रजाका पुत्रवत् पालन करे) ॥ ११ ॥

हे वन्द्य अग्ने देव ! त्वं तव पायुभिः, मघोनः नः तन्वः च रक्ष। तव व्रते अनिमेषं रक्षमाणः, तोकस्य तनये गवां त्राता असि ॥ १२ ॥

हे वन्दनीय अग्नि देव ! तुम अपनी संरक्षक शक्तियोंसे हमें धनवान बना कर, हमारे शरीरोंकी सुरक्षा करो। तुम्हारे नियमोंमें निरन्तर रहनेवाला (हमेशाही) सुरक्षित रहता है, (हमारे सब) बाल बच्चोंकी तथा गौओंकी (सदा) सुरक्षा करो ॥१२॥

हे अग्ने ! त्वं यज्वने पायुः। अनिषङ्गाय अन्तरः चतुः-अक्षः इध्यसे। अवृकाय धायसे यः रातहव्यः, कीरेः चित् तं मन्त्रं मनसा वनोषि ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! तुम यज्ञ करनेवालेके संरक्षक हो। संगरहित (होकर कार्य करनेवाले)के हितके लिये पास रहकर चारों ओर अपनी आंखें रखते हुए तुम तेजस्वी (होकर उसके रक्षक) होते हो। अहिंसक और पोषकके लिये जो अन्नदान करता है, उस कविके उस मन्त्रका तुम मनसे स्वीकार करता है ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! त्वं उरुशंसाय वाघते स्पार्हं परमं यत् रेक्णः तत् वनोषि। आध्रस्य चित् प्रमतिः पिता उच्यसे। विदुष्टरः, पाकं दिशः (च) प्र प्र शास्सि ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! तुम बहुत प्रशंसा करनेवाले भक्तके लिये जो जो इच्छा करनेयोग्य धन है, वह सब इकट्ठा करते हो (और उसको देते हो)। दुर्बलके लिये भी उत्तम बुद्धि (प्रदान) करनेके कारण (तुम्हें सब) पिता कहते हैं। तुम अधिक ज्ञानवान् हो, (अतः तुम) अज्ञानीको (सब कार्योंकी) दिशाएँ बताने हो ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! त्वं प्रयत-दक्षिणं नरं, स्यूतं वर्म इव, विश्वतः परि पासि। स्वादु-क्षद्मा, वसतौ स्योनकृत्, यः जीवयाजं यजते, सः दिवः उपमा (भवति) ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! प्रयत्नशील मानवके लिये दान देनेवाले नेताको, ठीक तरह सीये हुए कवचके समान, सब ओरसे तुम सुरक्षित रखते हो। मीठा अन्न तैयार करके, अपने घरमें (अतिथियोंकी तृप्ति करनेद्वारा) जो उनको सुख देता है, और जीवोंके (हितके) लिये जो यज्ञ करता है, वह स्वर्गकी उपमा (देने योग्य है) ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! (त्वं) नः इमां शरणिं मीमृषः। दूरात् यं इमं अध्वानं अगाम। सोम्यानां मर्त्यानां आपिः पिता प्रमतिः, भृमिः, ऋषिकृत् असि ॥ १६ ॥

हे अग्ने ! (तुम) हमारी इस त्रुटीकी क्षमा करो। क्योंकि हम दूर (इस समयतक भटकते रहे थे, पर अब) इस धर्ममार्गपर आगये हैं। तुम शान्त स्वभाववाले मानवोंके बन्धु पिता, सुबुद्धि देनेवाले, शीघ्रतासे कार्य करनेवाले और ऋषियोंको निर्माण करनेवाले हो ॥ १६ ॥

हे शुचे अङ्गिरः अग्ने ! मनुष्वत्, अङ्गिरस्वत्, ययातिवत् पूर्ववत् सदने अच्छ याहि। (तत्र) दैव्यं जनं आ वह, बर्हिषि आ सादय। प्रियं यक्षि च ॥ १७ ॥

हे शुद्ध अङ्गिरा अग्ने ! तुम मनु, अङ्गिरा, ययाति आदि पूर्व पुरुषोंके समान यज्ञ स्थानमें आओ। (वहां) दिव्य जनोंको ले आओ। (उनको) आसनोंपर बिठलाओ। और प्रिय अन्न देओ ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! एतेन ब्रह्मणा वावृधस्व। शक्ती वा चित्ता वा यत् ते चकृम, उत अस्मान् वस्यः प्र णेषि। नः वाजवत्या सुमत्या सं सृज ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! इस स्तोत्रसे (तुम्हारा यश) बढता रहे। अपनी शक्तिसे और ज्ञानसे जो यह तुम्हारा (पूजन हमने) किया है, (उससे) हमें धनके पास पहुंचाओ। और हमें बल बढानेवाले अन्नसे युक्त करके शुभ मतिसे भी संयुक्त करो ॥ १८ ॥

परम पिताका यशगान

इस सूक्तमें परम पिताका यश गाया है। वह मनन करने योग्य है। इस सूक्तमें परम पिता परमात्माका अग्निरूप दर्शा कर, उसीका वर्णन करते करते परमात्माका भी वर्णन किया है। इस अग्निके वर्णनमें जो परमात्म-स्वरूपको दर्शानेवाले पद और वाक्य हैं, वे नीचे देते हैं—

१ अङ्गिराः अग्निः देवः— प्रत्येक अङ्ग और अवयवमें रसरूप (अङ्ग-रस्) से रहनेवाला, जैसा जलोंमें रस, अग्निमें तेज, बलवानोंमें बलके रूपमें दीखनेवाला देव (गीता अ० ७।८-११) (मं. १)

२ प्रथमः ऋषिः देवानां शिवः सखा— पहिला ज्ञानी और देवोंका शुभ मित्र।

३ व्रते कवयः विद्मनापसः— उसके नियमानुसार जो चलते हैं, वे अतींद्रिय ज्ञानी बनकर सब कार्य विधिपूर्वक करते हैं।

४ देवानां व्रतं परिभूषसि— देवोंके व्रतोंको सुशोभित करता है। (मं. २)

५ विभुः— सर्वव्यापक,

६ विश्वस्मै भुवनाय मेधिरः— सब प्राणियोंको बुद्धि-का दान करता है।

७ आयवे कतिधा चित् शयुः—मनुष्यके हितके लिये कई प्रकारोंसे सर्वत्र अवस्थित है।

८ सुकृतुया विवस्वते आविर्भव— उत्तम कर्मके द्वारा विशेष रीतिसे मानवोंका निवास (वि-वस्वते) करानेवाले के हित करनेके लिये प्रकट होते हैं। (मं. ३)

९ रोदसी अरेजेतां-इसके भयसे सब आकाश और पृथिवी कांप उठती है। **(भयात्तपति सूर्यः** -) भयसे सूर्य तपता है। (कठ उ. ६।३)

१० महः वसुः-सबका बडा निवासक, बडे देवोंका भी निवासक यह है।

११ मनवे द्यां अ-वाशयः-मनुष्यके हितके लिये आकाशको शब्द गुणयुक्त बनाया है। द्युलोकको शब्दमय बनाया। (मं. ४)

१२ पुरू-रवसे सुकृते सुकृत्तरः- बहुज्ञानी शुभ कर्म करनेवालेके हित करनेके लिये यह अधिक शुभ करता है। (पुरू-रवाः=बहु-शब्दवान्, बहुत ज्ञानी, बहुत व्याख्यान करनेवाला)

१३ वृषभः, पुष्टिवर्धनः, श्रवाय्यः-बलवान्, पुष्टिकर्ता और कीर्तिमान्, (मं. ५)

१४ एकायुः विशः आ विवासति-पूर्ण आयु देकर प्रजाओंका निवास कराता है।

१५ वृजिन-वर्तनिं नरं सक्मन् विदथे पिपर्षि-पापी मनुष्यको भी विद्वानोंके साथ रखकर जीवनयुद्धमेंसे बचाकर पार करता है। (मं. ६)

१६ शूरसातौ परितक्म्ये धने दभ्रेभिः चित् समृतौ भूयसः हंसि- जहां शूर पुरुष ही कार्य करते हैं, ऐसे चारों ओरसे हमला करनेके योग्य महायुद्धमें निर्बलोंसे भी तुम बहुत शूर शत्रुओंका वध करते हैं।

१७ मर्तं दिवेदिवे श्रवसे, उत्तमे अमृतत्वे दधासि-मनुष्यको तुम प्रतिदिन अन्न देकर पुष्ट करते हैं वा यशस्वी करते हैं, और उत्तम अमर पदमें स्थिर करते हैं। (मं. ७)

१८ उभयाय जन्मने तातृषाणः, सूरये मयः प्रयः च कृणोषि- (ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन) दोनों जीवनोंमें (उन्नति होनेकी इच्छा करनेवाले,) पिपासित हुए को, ज्ञानीके योग-क्षेमका प्रबंध करते हैं। (मयः-सुख; प्रयः-- अन्न, प्रयत्नसे प्राप्तव्य)

१९ कारुं धनानां सनये यशसं कृणुहि- कारीगरको धनोंकी प्राप्तिके लिये यशस्वी करो। (मं. ८) जिसको धन देनेकी तुम्हारी इच्छा होती है उसको कारीगरीमें, विद्यामें यशस्वी बनाते हैं।

२० देवेषु जागृविः देवः-देवोंमें जागनेवाला देव है(मं. ९)

२१ पित्रोः उपस्थे तनूकृत्- मातापिताओंसे पुत्रका शरीर निर्माण करता है। पितासे मातामें वीर्यरूप, मातामें गर्भरूप और मातासे पुत्ररूपमें शरीर निर्माण करता है।

२२ कारवे प्रमतिः-कारीगरके लिये उत्तम बुद्धि देते हैं, हरएक प्रयत्नशीलको प्रवीण कर देते हैं।

२३ कल्याण ! विश्वं वसु ओपिषे-वह कल्याण करनेवाला है और मनुष्योंको सब धन देता है, निवास करनेकी सुविधारूप धन देता है।

२४ नः पिता, वयं जामयः- तू हमारा पिता है और हम भाई हैं (मं. १०)

२५ त्वां व्रतपां सुवीरं शतिनः सहस्रिणः रायः यन्ति-व्रतपालक उत्तम वीर ऐसे प्रभुके पास सैकडों और सहस्रों धन पहुंचते हैं।

२६ अ-दाभ्यः-प्रभु किसीसे न दबनेवाला है।

२७ देवाः आयवे आयुं अकृण्वन्-देवोंने मानवोंके लिये आयु बनायी है (वह प्रभुकी ही शक्ति है।) (मं. ११)

२८ विश्पतिं अकृण्वन्— प्रजाके पालनकर्ताको भी देवोंने निर्माण किया (राजा प्रभुकाही रूप है। **नराणां च नराधिपं** । गी. अ. १०।२७)

२९ तव पायुभिः मघोनः तन्वः च रक्ष— तेरी शक्तियोंसे हमें धनवान् बनाकर हमारे तथा हमारे बालबच्चोंके शरीरोंकी सुरक्षा करो। (मं. १२)

३० अनिमेषं रक्षमाणः तोकस्य तनये गवां च त्राता— सतत, आंखकी पलकें न मूंदते हुए, वह सबकी रक्षा करता है, बालबच्चोंकी और गाइयोंकी भी रक्षा करता है।

३१ यज्यवे पायुः— यज्ञ करनेवालेकी रक्षा करता है। (मं. १३)

३२ अ-नि-षङ्गाय चतुरक्षः इध्यसे— संगरहित होकर जो कर्म करते हैं, उनकी सुरक्षाके लिये चारों ओर आंखें खोलकर रखता हुआ प्रकाशित होता रहता है।

३३ अ-वृकाय धायसे रातहव्यः— किसीकी हिंसा न करनेवालेको और दूसरोंका पोषण करनेवालेको अन्न देता है।

३४ कीरेः मन्मं मनसा वनोषि- भक्तकी की हुई प्रार्थनाको मनसेही जानता है।

३५ उरुशंसाय वाघते परमं स्पार्ह रेक्णः वनोषि- भक्तको देनेके लिये परम श्रेष्ठ धन लेता है। (मं. १४)

३६ आध्रस्य प्रमतिः- अज्ञानीके लिये उत्तम बुद्धि देता है।

३७ पिता उच्यसे- (उस प्रभुको) सब लोग पिता कहते हैं।

३८ विदुष्टरः पाकं दिशः प्र शास्सि— तू अधिक ज्ञानी है, इसलिये अज्ञानीको उन्नतिकी दिशाएं बताता है।

३९ प्रयत-दक्षिणं नरं विश्वतः परि पासि- प्रयत्न से उत्तम कर्म करनेवालेके लिये जो योग्य दक्षिणा देता है, उस नेताकी अथवा उस मनुष्यकी तू चारों ओरसे सुरक्षा करता है। (मं.१५) (प्र-यतः- प्रयत्न करनेवाला, उन्नतिके लिये कार्य करनेवाला)

४० नः शरणि मीमृषः- हमारी त्रुटीकी क्षमा करो। (मं. १६)

४१ सोम्यानां मर्त्यानां आपिः, पिता, प्रमतिः, भृमिः, ऋषिकृत् असि- शान्त मनवाले मानवोंके लिये प्रभु भाई, पिता, सद्बुद्धिदाता, संचालक और द्रष्टा बनानेवाला है। अर्थात् प्रभु सबके साथ भाई, पिता, उत्तम मंत्रणा देनेवाला, चालक और अतींद्रिय दृष्टि देनेवाला होनेके समान बर्ताव करता है। वह प्रभु भाईके समान सबका हित करता है, पिताके समान सबका जनक है, आचार्यके समान शुभ मति प्रदान करता है, नेताके समान सुयोग्य मार्गसे सबका संचालन करता है, सद्गुरुके समान अतीन्द्रिय दृष्टि देकर ऋषि भी बनाता है।

४२ दैव्यं जनं आवह- दिव्य जनको आगे बढाओ। (मं. १७)

इस तरह इस सूक्तमें परमात्माकी प्रार्थना उपासना आदि करते हुए प्रभुका वर्णन किया है। पाठक इन वचनोंका विचार, मनन और निदिध्यासन करके स्वयं उपासना करते हुए इन गुणोंका अनुभव लें। इन वचनोंका मानवधर्मकी दृष्टिसे और भी विचार किया जा सकता है, जैसा- **शिवः सखा** (१)- मित्र शुभ हो, शुभ कार्यकी सलाह देवे। **विद्मनापसः**- विधिका ज्ञान प्राप्त करके कर्म करें। **मेधि-रः** (२)- उत्तम मंत्रणा देवें। **सुकृते सुकृत्तरः** (४)- शोभन कर्म करनेवालेके लिये उससे भी अधिक उत्तम कर्म करानेकी सहायता करना योग्य है। **वृजिनवर्तनिं नरं विदथे पिपर्षि** (६)- पापी मनुष्यको भी कठिन समयमें सहायता करो। **दभ्रेभिः भूयसः हंसि**- निर्बलोंसे भी सबलोंका नाश करो, ऐसी युक्ति करो कि जिससे निर्बल सज्जन भी बलवान् शत्रुका नाश कर सकें। **मयः प्रयः कृणोषि** (७)- सुख और अन्नका प्रबंध करो। **जागृविः** (९)- सदा सावध रहो। **कारवे प्रमतिः**- कारीगरको सद्बुद्धि दो, इस तरह सामान्य बोध ये ही वाक्य देते हैं। इनका विचार पाठक शान्तिपूर्वक करें और जो बोध मिलेगा, उसे अपना लें। इसी तरह—

१ नवेन अपसा कर्म अध्याम (मं.८)- नवीन प्रयत्न करके कर्मकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। प्रयत्न करनेसेही सिद्धि होती है।

२ मनुषस्य शासनीं इळां अकृण्वन्। (मं. ११)- मानवोंके राज्यशासनके लिये नीति नियम बनाये। ' इळा ' नाम वाणीका है। इ-ला (the Law, e-law) मानवोंकी शासनसंबंधी जो नियमावली है, उसका नाम ' इ-ला ' है।

३ **पितुः यत् पुत्रः जायते, (सः) ममकस्य** (मं. ११)- पिताका जो पुत्र होता है, उसपर उसका ममत्व रहता है, इसीलिये पिताकी संपत्तिका दायभाग उसे मिलता है।

४ **यः स्वादुक्षद्मा वसतौ स्योनकृत्,** (यः च) **जीवयाजं यजते, सः दिवः उपमा** (मं. १५)- जो अपने घरमें मीठे अन्न पकाकर अपने घर आये अतिथियोंको प्रसन्न करता है, (और जो) जीवोंके लिये यज्ञ करता है, उसको स्वर्गकी उपमा है, वह मूर्तिमान् स्वर्ग ही है, वह स्वर्गका धाम है। यहां अतिथि-यज्ञ और भूतयज्ञ करनेका उपदेश है। '**जीवयाज**' पद 'भूत-यज्ञ' के लिये आया है और '**वसतौ स्योनकृत्**' ये पद 'गृहयज्ञ' अथवा 'अतिथि-यज्ञ' किंवा 'नृयज्ञ' के लिये हैं। ये यज्ञ हिंसारहित और सुखकारी हैं।

५ **नः शरणि मीमृषः** (मं. १६)-हमसे यदि हिंसा हुई तो उसकी क्षमा करो। इस वचनसे स्पष्ट होता है कि हिंसा न करते हुए ही सब कर्म करने चाहिये। कई लोग मं. १५ के 'जीवयाज' पदसे जीव-हिंसा अर्थ करते हैं और यज्ञमें जीवहिंसा करनेका समर्थन करते हैं। परंतु इसी मंत्रमें हिंसा हुई तो क्षमा की प्रार्थना की है। इससे सिद्ध होता है कि हिंसा नहीं होनी चाहिये। 'शरणि' का अर्थ हिंसा, दोष, त्रुटी, प्रमाद, घात-पात है।

६ **दूरात् इमं अध्वानं अगाम** (मं. १६)- दूरसे इस मार्गको हम प्राप्त हुए हैं। अर्थात् हम प्रथम इधर उधर भटकते रहे, पर अनेक मार्गोंको देखकर अन्तमें इस वैदिक धर्मके मार्गपर हम आ पहुंचे हैं। यह शुभ परिवर्तन हुआ है। अब हम इसी मार्गपर रहेंगे। इस मंत्रभागसे पता लगता है कि अनेक मतमतांतरोंको छोडकर वैदिक धर्ममें प्रविष्ट होनेका सौभाग्य प्राप्त करनेका आनंद मिलनेका यह वर्णन है। विश्वको आर्य बनानेका यत्न करनेसे ऐसा होना स्वाभाविक ही है। ऋ.१।४।५ मंत्रकी टीका देखो (मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन पृ. १५) इन्द्रकी उपासनाकी दीक्षा लेनेका वहां वर्णन है। उस मंत्रका साम्य इस मंत्रके साथ तुलना करने योग्य है।

सूक्तका कर्तृत्व

इस सूक्तमें सूक्तके निर्माण करनेका उल्लेख है, ऐसा कई विचारकोंका मत है। '**शक्री वा विद्या वा यत् ते चकृम, एतेन ब्रह्मणा, हे अग्ने! वावृधस्व** (मं.१८)-हमारी शक्तिसे और हमारे ज्ञानसे जो यह तुम्हारा सूक्त हमने किया है, इस सूक्तसे, हे अग्ने! तुम्हारा यश बढे। यहां सूक्तकी रचना करनेवालेका बोध होता है। यहां इस ऋषिका नाम नहीं है। '**हिरण्यस्तूप आंगिरस**' ऋषिका नाम ऋ. १०।१४९।५ में इसीके '**अर्चन्**' नामक पुत्रके सूक्तमें आता है।

हमने यहां यह मंत्र रचनाकर्ताकी सूचना देता है ऐसा कई-योंका मत है ऐसा लिखा है, इसका कारण यह है कि इस मंत्रके '**शक्री वा विद्या वा यत् ते चकृम।**' (मं. १८)-शक्तिसे अथवा ज्ञानसे जो तेरा (पूजन) हमने किया है, ऐसा भी इसका अर्थ होता है, क्योंकि 'यत्' पदसे 'स्तोत्र' का ही अध्याहार करना चाहिये ऐसा नहीं। परंतु 'यत्' पदसे उसी मंत्रमें 'ब्रह्म' पद है, उसका अध्याहार करना युक्तियुक्त है और ब्रह्म पदका अर्थ स्तोत्र होता है। अस्तु। यहां दोनों पक्ष पाठकोंके सामने हमने रखे हैं। इसका विचार विशेष होना चाहिये।

आदर्श मानव

इस सूक्तमें आदर्श मानवके निम्न लिखित गुण वर्णन किये है-(प्रथमः) पहिला हो, सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाला हो, (ऋषिः) अतींद्रियदर्शी हो, (शिवः सखा) शुभ मित्र हो, [मं. १] (कविः) ज्ञानी, (मेधिरः) बुद्धि प्रदाता, सलाहगार, (विभुः) विशेष प्रभावी, [मं.२] (सुकृत्तरः) अधिक उत्तम कर्म करनेवाला, [मं. ४], (वृषभः) बलिष्ठ, (पुष्टिवर्धनः) पुष्टि करनेवाला, (श्रवाय्यः) कीर्तिमान् [मं. ५], (विचर्षणिः) विशेष ज्ञानी, सूक्ष्मदर्शी, [मं. ६] (अनवद्य) अनिंद्य, (जागृविः) जागनेवाला, सावध, (प्रमतिः) विशेष बुद्धिमान् [मं.९], (अदाभ्यः) न दबनेवाला, (सुवीरः) उत्तम वीर, (व्रतपाः) नियमोंका पालक, [मं. १०] (विदुष्टरः) विशेष ज्ञानी [मं. १४]

इस तरह अनेक शुभ गुणोंसे युक्त जो मानव होगा वह आदर्श मानव इस सूक्तके द्वारा जनताके सामने रखा गया है। इस सूक्तके अनेक वाक्य भी इस तरह जोडकर आदर्श मानव कैसा होगा, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

(२) क्षात्रधर्म

(ऋ. १।३२) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ १ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ २ ॥
वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ३ ॥
यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।
आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥ ४ ॥
अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ५ ॥
अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ ६ ॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥ ७ ॥
नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः ।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥ ८ ॥
नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥
अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ १० ॥
दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार ॥ ११ ॥
अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत् त्वा प्रत्यहन् देव एकः ।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥ १२ ॥
नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद् ह्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद् युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ १३ ॥
अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषो भीरगच्छत् ।
नव च यन् नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥ १४ ॥
इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः ।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान् न नेमिः परि ता बभूव ॥ १५ ॥

अन्वयः- वज्री यानि प्रथमानि वीर्याणि चकार, (तानि) इन्द्रस्य (वीर्याणि) नु प्र वोचम्। अहिं अहन्, अनु अपः ततर्द । पर्वतानां वक्षणाः प्र अभिनत् ॥ १ ॥

अर्थ— वज्रधारी इन्द्रने जो पहिले पराक्रम किये थे, इन्द्रके उन्हीं (पराक्रमोंका) हम वर्णन करते हैं । (उसने) अहिका वध किया । पश्चात् जलप्रवाहोंको खुला कर दिया और पर्वतों- मेंसे नदियोंका मार्ग खोद (कर विशाल कर) दिया ॥ १ ॥

पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् । त्वष्टा अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष । धेनवः वाश्राः इव, स्यन्दमानाः आपः समुद्रं अञ्जः अव जग्मुः ॥ २ ॥

पर्वतपर आश्रय करनेवाले अहिका वध (इन्द्रने) किया। त्वष्टा कारीगरने उसके लिये (शत्रुपर) उत्तम रीतिसे फेंकने योग्य (दूरसे वेध करनेवाला) वज्र बनाया था। तब गौवें जैसी हम्भारव करती हुई (अपने बच्चेकी ओर दौडती हैं वैसेही), दौडनेवाले जल-प्रवाह समुद्रके पास वेगसे जाने लगे ॥ २ ॥

वृषायमाणः (इन्द्रः) सोमं अवृणीत । त्रिकद्रुकेषु सुतस्य अपिबत् । मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त । अहीनां प्रथमजां एनं अहन् ॥ ३ ॥

बलवान् (इन्द्रने) सोमका स्वीकार किया। तीन पात्रोंमें रखे रसका पान किया। धनवान् (इन्द्रने) बाण और वज्रको (हाथमें) पकडा और अहियोंमेंसे इस मुखियाका वध किया ॥ ३ ॥

उत हे इन्द्र! यत् अहीनां प्रथमजां अहन्, आत् मायिनां मायाः प्र अमिनाः । आत् द्यां उषसं सूर्यं जनयन्, तादीत्ना शत्रुं न विवित्से किल ॥ ४ ॥

और हे इन्द्र! जब अहियोंमेंसे प्रमुख वीरका वध किया, तब कपटियोंके कपटमय षड्यंत्रोंका भी विनाश किया। पश्चात् आकाशमें उषा और सूर्यको प्रकट किया: तब (तुम्हारे लिये कोई) शत्रु निःसंदेह नहीं रहा ॥ ४ ॥

इन्द्रः महता वधेन वज्रेण वृत्रतरं वृत्रं, व्यंसं, अहन्, कुलिशेन विवृक्णा स्कन्धांसि इव, अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते ॥ ५ ॥

इन्द्रने बडे घातक शस्त्रसे बडे घेरनेवाले वृत्रका, उसके बाहु काटनेके पश्चात् वध किया, कुल्हाडेसे छेदे गये वृक्षकी शाखाओंकी तरह, वह अहि पृथ्वीके ऊपर पडा हुआ है ॥ ५ ॥

दुर्मदः अयोद्धा इव महावीरं तुविबाधं ऋजीषं (इन्द्रं) आ जुह्वे हि । अस्य वधानां समृतिं न अतारीत् । इन्द्रशत्रुः रुजानाः सं पिपिषे ॥ ६ ॥

महा घमण्डी (और अपनेको) अप्रतिम योद्धा माननेवाले (वृत्रने) महावीर, बहुत शत्रुओंका प्रतिबंध करनेवाले शत्रुनाशक (इन्द्र) को आह्वान देकर (युद्धके लिये) बुलाया। (पर पश्चात्) इस (इन्द्र) के आघातोंका सामना वह कर नहीं सका। (पश्चात्) इन्द्रके शत्रु (वृत्र) ने नदियोंको भी (स्वयं गिरते गिरते) तोड डाला ॥ ६ ॥

अपात् अहस्तः (वृत्रः) इन्द्रं अपृतन्यत् । अस्य सानौ अधि वज्रं आ जघान । वध्रिः वृष्णः प्रतिमानं बुभूषन् वृत्रः पुरुत्रा व्यस्तः अशयत् ॥ ७ ॥

पांव और हाथ कट जानेपर भी (वृत्रने) इन्द्रसे युद्ध करना चाहा। (इन्द्रने) इसके कन्धेपर वज्र मारा। वीर्यहीन मनुष्यके बलशाली वीरके साथ सामना करनेके समान वह वृत्र अनेक स्थानोंपर शस्त्रके आघात सहकर (पृथ्वीपर) गिर पडा ॥ ७ ॥

अमुया शयानं, भिन्नं नदं न, मनः रुहाणाः आपः अति यन्ति । वृत्रः महिना याः चित् (अपः) पर्यतिष्ठत्, तासां पत्सुतःशीः अहिः बभूव ॥ ८ ॥

इस (पृथ्वीके साथ) सोनेवाले (वृत्रको लांघकर), (महापूरसे तटको छिन्न)भिन्न करके बहनेवाली नदीके समान, मनोहारी जलप्रवाह बहने लगे। वृत्रने अपनी महिमासे जिन (जलों) को बद्ध कर रखा था, उनके पावोंके नीचे सोनेवाला ही (अब वही) अहि बन गया ॥ ८ ॥

वृत्रपुत्रा नीचावयाः अभवत्, इन्द्रः अस्याः वधः अव जभार । सूः उत्तरा, पुत्रः अधरः आसीत् । सहवत्सा धेनुः न, दानुः शये ॥ ९ ॥

वृत्रकी माताकी संरक्षण करनेकी शक्ति कम हो गयी। (वह माता पुत्रके ऊपर सो गयी, पर) इन्द्रने उस (माताके) नीचेसे (वृत्रपर) प्रहार किया। (उस समय) माता ऊपर और पुत्र नीचे था। बछडेके साथ जैसी धेनु (सोती है), वैसीही वह दानु (वृत्रमाता पुत्रके ऊपर) सो गयी थी ॥ ९ ॥

अतिष्ठन्तीनां अनिवेशमानानां काष्ठानां मध्ये वृत्रस्य निण्यं शरीरं निहितं, आपः वि चरन्ति । इन्द्रशत्रुः दीर्घं तमः आशयत् ॥ १० ॥

स्थिर न रहनेवाले और विश्राम न करनेवाले जलप्रवाहोंके बीचमें वृत्रका शरीर छिपकर पडा रहा था और उसपरसे जलप्रवाह चल रहे थे। इन्द्रके शत्रु (वृत्र) ने बडा ही अन्धकार फैला दिया था ॥ १० ॥

पणिना गावः इव, दासपत्नीः अहिगोपाः आपः निरुद्धाः अतिष्ठन्। अपां यत् बिलं अपिहितं आसीत्, तत् वृत्रं जघन्वान्, अप ववार ॥ ११ ॥

पणी नामक (असुर)ने जैसी गौवें (गुप्त रखी थीं), उस तरह दास (वृत्र) के द्वारा पालित और अहिद्वारा सुरक्षित जलप्रवाह रुके पडे थे (अर्थात् स्थिर हो गये थे)। जलका जो द्वार बन्द था, वह वृत्रके वधके पश्चात्, खोल दिया गया (अर्थात् जलप्रवाह बहने लगे) ॥ ११ ॥

सृके यत् एकः देवः त्वा प्रत्यहन्, तत् अश्व्यः वारः अभवः । गाः अजयः । हे शूर इन्द्र ! सोमं अजयः । सप्त सिन्धून् सर्तवे अव असृजः ॥ १२ ॥

(इन्द्रके) वज्रपर जब एक अद्वितीय युद्धकुशल (वृत्र) ने, मानो तुमपरही प्रहार किया, तब घोडेकी पूँछकी तरह (तुमने उसका) निवारण किया। और गौओंको प्राप्त किया । हे शूर वीर इन्द्र ! सोमको (तुमने) प्राप्त किया और सात सिन्धु-ओंके प्रवाहोंको गतिमान् करके खुला छोड दिया ॥ १२ ॥

अस्मै विद्युत् न सिषेध । तन्यतुः, यां मिहं अकिरत्, न (सिषेध)। ह्रादुनिं च (न सिषेध) । इन्द्रः च अहिः च यत् युयुधाते, उत मघवा अपरीभ्यः वि जिग्ये ॥ १३ ॥

(जब इन्द्र युद्ध करने लगा तब) इस (इन्द्र)को बिजली प्रतिबंध न कर सकी, मेघगर्जना और जो हिमवृष्टि हुई (वह भी उसका प्रतिबंध) न (कर सकी)। गिरनेवाली विद्युत् भी (इस इन्द्रको न रोक सकी)। इन्द्र और अहि परस्पर युद्ध करते थे, उस समय धनवान् (इन्द्र) ने अन्यान्य (शत्रुप्रेरित कपट प्रयोगोंको भी) जीत लिया ॥ १३ ॥

हे इन्द्र ! जघ्नुषः ते हृदि यत् भीः अगच्छत्, अहेः यातारं कं अपश्यः ? यत् नव च नवतिं च स्रवन्तीः रजांसि, भीतः श्येनः न, अतरः ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! (वृत्रका) वध करते समय तुम्हारे हृदयमें यदि भय उत्पन्न हो जाता, (तब तुमने) अहिका वध करनेके लिये किस दूसरे (वीर) को देखा होता ? (अर्थात् तुम्हें छोडकर दूसरा कोई वीर मिलना संभवही नहीं था।) तुमने तो नौ और नब्बे जल-प्रवाहोंको, अन्तरिक्षमें भयभीत श्येन-की तरह, पार कर दिया ॥ १४ ॥

वज्रबाहुः इन्द्रः यातः अवसितस्य, शमस्य शृङ्गिणः च, राजा । स इत् उ चर्षणीनां राजा क्षयति । अरान् नेमिः न, ताः परि बभूव ॥ १५ ॥

वज्रबाहु इन्द्र जङ्गम और स्थावरों, शान्त और क्रूरों (सींग-वालों) का राजा है। वही मनुष्योंका भी राजा (होकर) रहा है। आरोंको जिस तरह चक्रकी नेमि (धारण करती है, उस तरह) वे सब (उसके) चारों ओर रहते हैं (अर्थात् वही सबका धारण करता है) ॥ १५ ॥

ईश्वर-स्वरूपका विचार

इस सूक्तका अन्तिम मंत्र ईश्वरस्वरूपकी स्पष्ट कल्पना दे रहा है। इस मन्त्रमें निम्नलिखित चार कल्पनाएं स्पष्ट हैं—

१ इन्द्रः यातः अवसितस्य राजा- इन्द्र जंगम और स्थावरोंका राजा है।

२ वज्रबाहुः शमस्य च शृंगिणः राजा- वज्रधारी इन्द्र शान्त और क्रूरों, सींगवालों अथवा शस्त्रधारियोंका राजा है।

३ सः चर्षणीनां राजा क्षयति- वह सब प्रजाओंका राजा होकर रहता है।

४ ताः (प्रजाः), अरान् नेमिः न, (सः) परि बभूव- वे प्रजाजन, चक्रके आरे चक्रकी नेमिके चारों ओर रहते हैं वैसे, उसके चारों ओर रहते हैं। (मं. १)

परमात्मा नाभी। चार वर्ण और निषाद चण्डाल ये आरे और ब्रह्माण्ड चक्र। यहांका चित्र पिण्डका है।

चक्रकी नेमि ईश्वर है और उस प्रभुके आधारपर सब विश्व रहा है, जिस तरह चक्रनेमीके आधारसे चक्रके आरे रहते हैं। सर्वाधार ईश्वरकी कल्पना यहां स्पष्ट हुई है। दूसरा उदाहरण वृक्षके आधारसे वृक्षकी शाखाएं रहती हैं, यह वेदने अन्यत्र दिया है। स्थावर-जंगम, शान्त-क्रूर, सींगवाले-सींगसे रहित ये सब द्वन्द्व हैं। इससे विभिन्न अन्य द्वन्द्वोंकी भी कल्पना यहां पाठक कर सकते हैं, जड-चेतन, प्राणी-अप्राणी, पशु-पक्षी, मनुष्य-मनुष्येतर, राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, ज्ञानी-अज्ञानी, मालिक-मज्दूर इत्यादि अनेक द्वन्द्व इस विश्वमें हैं। इन सबका राजा इन्द्र है, अर्थात् प्रभुही है। सबका चालक और अधिपति वही एक ईश्वर है। सब मानवोंका वही प्रभु है, इसलिये सबको उसी एक प्रभुकी उपासना करना योग्य है।

इस सूक्तमें विद्युत् प्रकाश रूपमें इस प्रभुका साक्षात्कार किया गया है और क्षात्रधर्मका उपदेश किया है। देखिये-

क्षात्रधर्म

१ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन्- पर्वतपर रहनेवाले अहि नामक शत्रुका वध इन्द्रने किया, पर्वतपरके दुर्गका आश्रय करके यह अहि रहता था, उसपर हमला करके इन्द्रने उस शत्रुका पराभव किया और उसका वध भी किया। (मं. २)

२ अहीनां प्रथमजां एनं अहन्- अहि नामक शत्रुके अनेक वीर लडनेके लिये आये थे, उनमें जो प्रमुख मुखिया वीर था, उसका वध इन्द्रने किया, जिससे बाकी रहे सबोंका पराभव हुआ। यहां प्रथम मुखियाका वध करना चाहिये, यह युद्धनीतिकी बात प्रकट हो रही है। (मं. ३,४)

३ मायिनां मायाः अमिनाः- कपटी शत्रुओंके सब कपटपूर्ण षड्यन्त्रोंका इन्द्रने नाश किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि, स्वयं सावध रहकर शत्रुकी कपट युक्तियोंको जानना चाहिये और उनका नाश करना चाहिये अथवा उनको विफल करना चाहिये। (मं. ४)

४ शत्रुं न विवित्से-एक भी शत्रु किसी स्थानपर न दीखे, ऐसी स्थिति आनेतक युद्ध करके शत्रुका नाश करना चाहिये। (मं. ४)

५ दासपत्नीः अहिगोपाः आपः निरुद्धाः आसन्। वृत्रं जघन्वान्, अपां बिलं निहितं आसीत्, तत् अप ववार- शत्रुने जलप्रवाहोंपर अपना कब्जा किया था, सब जलप्रवाह रोक रखे थे। इन्द्रने वृत्रका वध किया और जो जलोंका द्वार बंद किया था, उसे खोलकर सबके हितके लिये जलप्रवाह खुले किये। (मं. ११)

शत्रुकी युद्धनीति यह रहती है कि जलस्थान अपने अधिकारमें रखना और प्रतिपक्षीको जल न देनेसे तंग करना। इस कारण इन्द्रकी नीति यह रहती है कि शत्रुवीरोंको परास्त करके उन जलप्रवाहोंको सबके लिये खुला करना।

६ नव च नवतिं च स्रवन्तीः रजांसि अतरः- नौ और नव्वे जलप्रवाहों और प्रदेशोंको प्राप्त किया और उससे भी परे चला गया। यह इन्द्रका पराक्रम है। इतनी नदियां और इतने बीचके प्रदेश इन्द्रने शत्रुसे मुक्त किये और अपने अधिकार में लाये। (मं. १४)

७ त्वष्टा अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष- कारीगरने इस इन्द्र के लिये (सु+अर्यं) उत्तम रीतिसे जो शत्रुपर फेंका जाता है ऐसा वज्र तैयार करके दिया। (मं. २) देशवासी कारीगरोंको उचित है कि वे अपने देशके वीरोंको शस्त्रास्त्र निर्माण करनेकी

सहायता देवें, जिससे अपने वीरोंको उत्तेजना मिले और शत्रु परास्त हो जाय।

८ मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त- इन्द्रने अपने पास बहुत धन इकट्ठा किया, उससे उसको शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए। (मं. ३) और उन शस्त्रास्त्रोंसे उसने शत्रुका पराभव किया।

९ दुर्मदः अयोद्धा (इन्द्रं) आ जुह्वे-घमण्डी और अपने को अजिंक्य समझनेवाले वृत्रने इन्द्रको लडनेके लिये आह्वान दिया। उस शत्रुने यह समझा था कि अपनी शक्ति अधिक है और इन्द्रकी कम है, इस घमण्डमें वह था और उसने आह्वान दिया था। (मं. ६)

१० वृत्रतरं वृत्रं अहन्— वृत्र नामक शत्रु (वृत्रतरः) चारों ओरसे घेरकर रहा था। उसका विचार था कि इन्द्रकी सेनाको चारों ओरसे घेरकर मारना, परंतु यह कपट इन्द्रने जान लिया और उसीका वध किया। (मं. ५)

११ अस्य वधानां समृतिं न अतारीत्— इन्द्रके द्वारा हुए अनेक आघातोंको वह वृत्र न सह सका। शत्रुपर ऐसे ही हमले करने चाहिये। (मं. ६)

१२ विद्युत् , तन्यतुः, मिहं, ह्रादुनिः अस्मै न सिषेध— बिजलियाँ, मेघगर्जनाएं, बडी वृष्टि, बर्फकी वर्षा, बिजलियोंका गिरना आदि आपत्तियाँ इन्द्रको न रोक सकीं। इन्द्र जिस समय शत्रुपर हमला करने लगा था, उस समय ये विघ्न होने लगे थे, पर इन्द्रका हमला होता रहा। शत्रु परास्त होने-तक इन्द्रने विघ्नोंकी पर्वाह न करते हुए हमला किया और अन्त-में विजय पाया। (मं. १३)

१३ यत् जघ्नुषः हृदि भीः अगच्छत्, अहेः यातारं कं अपश्यः ?— जब इस हमला करनेवाले इन्द्रके हृदयमें भय उत्पन्न होता, तो उस युद्धके समय कौन दूसरा सहायक मिलता ? अर्थात् कोई नहीं। इस कारण न डरते हुए हमला चढाते रहना चाहिये। (मं. १४)

१४ इन्द्रः महता वधेन वृत्रं व्यंसं अहन्, अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते— इन्द्रने अपने बडे प्रभावी शस्त्रसे वृत्रके हाथ काट दिये और उसका वध किया, तत्पश्चात् वह वृत्र पृथ्वीके ऊपर गिर पडा। (मं. ५) यहां वृत्र और अहि ये एकके ही वाचक दो पद हैं।

१५ इन्द्रशत्रुः रुजानाः सं पिपिषे— वृत्र जो इन्द्रका शत्रु था, वह मरकर जब गिरा, तब उससे पृथ्वी चूर्ण हुई (मं. ६)

१६ अपाद् अहस्तः वृत्रः इन्द्रं अपृतन्यत्— हाथ पांव टूट जानेपर भी सेनाके साथ वृत्र युद्ध कर ही रहा था। (मं. ७)

१७ अस्य सानौ अधि वज्रं आ जघान वृत्रः पुरुत्रा व्यस्तः अशयत्— वृत्रके शिरपर जब वज्रका प्रहार किया, तब वह बहुत जगह घायल होकर अस्तव्यस्त होकर भूमिपर गिर गया। (मं. ७)

१८ वध्रिः वृष्णः प्रतिमानं बुभूषन्—नपुंसक, जैसा पौरुषशक्तिसंपन्न वीरसे स्पर्धा करे, वैसी स्पर्धा वृत्रने इन्द्रके साथ की। (मं. ७)

१९ वृत्रः महिना पर्यतिष्ठत्, अहिः तासां पत्सुतः-शीः बभूव- वृत्र अपनी शक्तिसे जिनके शिरपर नाचता था, उनकेही पांवोंके तले अब वह गिर पडा है। (मं. ८)

२० सूः उत्तरा, पुत्रः अधरः आसीत्, अस्याः अव वधः जभार— माता ऊपर और पुत्र नीचे पडा था, माता अपने पुत्रकी सुरक्षा करनेकी इच्छासे उसपर गिर गयी थी, पुत्र बचे और उसके बदलेमें मर जाऊंगी, ऐसी उसकी इच्छा थी, पर इन्द्रने नीचेसे वज्र फेंककर वृत्रको मार दिया। (मं. ९)

इस तरह इस सूक्तमें युद्धनीतिका उपदेश है, जो पाठक मंत्रार्थ देखकर तथा आगे पीछेके मंत्रभागोंकी संगति लगाकर जान सकते हैं। यहां कुछ मंत्रभाग नमूनेके लिये बताये हैं। इससे अधिक विवरण करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है।

अलंकार

यह कथा आलंकारिक है। वृत्र, अहि आदि पद मेघवाचक हैं ऐसा भाष्यकार, निरुक्तकार और निघंटुकारका मत है। इस समयतक सब ऐसा ही मानते आये हैं। पर यह ठीक प्रतीत नहीं होता। इसके कारण यहां देते हैं—

१ द्यां उषसं सूर्यं जनयन्, शत्रुं तादीत्ना न विवित्से किल (मं. ४)- द्युलोकमें उषा चमक उठी, सूर्यका उदय हुआ, इसके बाद एक भी शत्रु न रहा। सूर्यका उदय होनेसे शत्रुका न होना, यदि मेघरूप शत्रु वृत्र, अहि आदि मेघ ही हैं ऐसा माना जाय तो, मेघरूप शत्रुका नाश होना संभव नहीं है। सूर्य उदय होनेसे मेघ पिघलते नहीं। सूर्य प्रकाशित होनेपर भी मेघ आकाशमें रहते हैं। अतः अहि वृत्ररूप शत्रु ऐसा होना चाहिये कि जो सूर्य आते ही विनष्ट होता जाय और उससे जल बहता जाय। मेघसे तो ऐसा नहीं होता। पहाडोंपर पडे बर्फका

सूर्य-किरणोंसे पिघलना संभव है। किरणोंसे पहाडों और भूमिपर पडा बर्फ पिघलता है, यह हम देखते हैं। वैसे मेघ सूर्य आनेसे अथवा प्रकाशसे पिघलते नहीं हैं, इसलिये सूर्यका उत्पन्न या उदय होना और शत्रुका नाश होना, मेघके विषयमें सत्य नहीं है, परंतु बर्फके विषयमें सत्य है।

१ अहिं अहन्, अपः ततर्द, पर्वतानां वक्षणाः प्र अभिनत् (मं. १) अहिको मारा, पानी बहाया, पर्वतोंसे नदिया बहायीं। पर्वतोंपरका वर्फ पिघलनेसे सिंधु, गंगा आदि नदियोंका बहना, बडा पूर आकर भरपूर भरना, प्रत्यक्ष दीखता है।

२ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन्। आपः समुद्रं अवजग्मुः (मं २)-पर्वत पर रहे अहिको मारा और जल समुद्र तक बहता गया। पर्वतपरका बर्फ पिघलनेसे नदियोंमें महा-पूर आगया, जिससे पानी समुद्रतक पहुंचा। गंगा आदि नदियों को बर्फ पिघलनेसे ही गर्मियोंके दिनोंमें महापूर आते हैं।

४ अहिः पृथिव्याः उप पृक् शयते (मं. ५)-अहि पृथ्वी पर लेटता हुआ सोता है। पृथ्वीपर अहि अथवा वृत्रका सो जाना, उसको बर्फ की दशामें स्वीकार करनेसे ही, हो सकता है। मेघ कभी मेघ-दशामें पृथ्वीपर सोता नहीं। इस लिये अहि अथवा वृत्र ये पद बर्फके वाचक मानना युक्तियुक्त है। बर्फ तो पहाडोंपर भी गिरता है और भूमिपर भी। वहां सूर्य-किरणोंसे पिघलता है और उसके पानीसे नदियां महापूरसे भरपूर भरती हुई समुद्रतक जाती है।

५ इन्द्रशत्रुः रुजानाः सं पिपिषे (मं. ६)-इंद्रशत्रु वृत्र नदियोंको तोड देता है। इन्द्र-शत्रु सूर्य-किरणोंका शत्रु यहा बर्फ लीजिये। सूर्यके प्रकट होनेसे वह पिघलकर पानीका महा-पूर आया, उससे नदियोंके तीर टूट गये और नदियाँ बढकर बहने लगीं। वृत्रको मेघ माननेकी अपेक्षा हिम-बर्फ-माननेसे यह वर्णन युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

६ अमुया शयानं आपः अतियन्ति (मं. ८)-इस भूमिके साथ सोनेवाले (इस वृत्र परसे) जल-प्रवाह लांघकर जाते हैं। यहां **'अमुया शयानं'** ये पद वृत्र पृथ्वीके साथ सोया पडा था यह भाव स्पष्ट बताते हैं। मेघकी अपेक्षा हिमकालका बर्फ ही पृथ्वीपर सोया पडा रहता है और पानी भी उससे चूता रहता है, विशेष कर सूर्य-किरणोंसे पानीके प्रवाह उससे बहते रहते हैं, यह बात स्पष्ट है।

७ काष्ठानां मध्ये वृत्रस्य शरीरं निण्यं निहितं, आपः विचरन्ति, इन्द्रशत्रुः दीर्घं तमः आशयत् (मं. १०)— प्रवाहोंके बीचमें वृत्रका शरीर छिपा पडा, उससे जल-प्रवाह बहने लगे, इन्द्र शत्रु इस वृत्रने बडा दीर्घ अन्धकार छा दिया। जल-प्रवाहोंमें वृत्रका शरीर छिपा पडा यह बात वृत्रके बर्फ होनेसेही ठीक सिद्ध हो सकती है। क्यों कि पृथ्वीपरका बर्फ पिघलने लगा और भूमिपर महा पूर आया तो बीचमें बर्फके ऊपरसे भी जल-प्रवाहोंका बहना स्वाभाविक है। मेघके विषयमें यह नहीं हो सकता। **'वृत्र'** आवरकको कहते हैं। यह बर्फ भूमिपर गिरनेसे वह भूमिपर आच्छादनसा पडता है, इसलिये भूमि तथा पहाडोंपर गिरनेवाले बर्फको वृत्र नाम आवरक होनेसे ठीक प्रतीत होता है। **'अही'** (अ-ही) उसको कहते हैं कि जो कम न हो, अर्थात् हिम-कालमें बर्फ गिरता जाता है और वह बढता जाता है, इसलिये उसको यह नाम है। यह दीर्घ अन्धेरा पृथ्वीपर फैलाता है। दीर्घ अन्धेरा मेघ नहीं फैलाते, दिनके समय मेघ आनेसे सूर्य-दर्शन नहीं होता पर अन्धेरा नहीं होता। बर्फका गिरना और दीर्घ रात्रिके अन्धेरेका होना यह बात उत्तरीय ध्रुव प्रदेशमेंही होनेवाली है। दीर्घ अन्धेरा मेघोंसे नहीं होता, न प्रतिदिनकी रात्रिका होता है, दीर्घ तम तो वही है जो छः मासकी प्रदीर्घ रात्रि उत्तरीय ध्रुवमें होती है, उसमें होता है। वेदमें 'दीर्घ तम' इसी प्रदीर्घ रात्रिके अन्धेरेको कहा है। रात्रिका प्रारंभ, (दीर्घ तमः) प्रदीर्घ अन्धकारका प्रारंभ, बर्फ गिरनेका प्रारंभ, उस बर्फसे भूमिका (वृत्र) आवरण होना, वह बर्फका आच्छादन (अ-हि) कम न होना, इस समय विद्युत्प्रकाश (इन्द्र) का होना, छः मासोंके बाद आकाशमें उषाका होना, अनेक उषाओंके बाद सूर्यका आना, इन्द्रके द्वारा सूर्यको ऊपर आकाशमें चढाना, सूर्य आने-पर बर्फ (वृत्र) का नाश होनेका प्रारंभ होना, पश्चात् जल-प्रवाहोंके महापूरोंसे नदियोंका भरना इत्यादि सब बातें उसी उत्तरीय प्रदेशोंमें प्रत्यक्ष दीखनेवाली हैं। प्रतिवर्ष वैसीही होनेके कारण ये घटनाएं सनातन भी हैं। यह वर्णन ऐसाही प्रतिवर्ष होता रहेगा। इसलिये इस सनातन घटनापर किये रूपक मानव के लिये सनातन बोध देंगे इसमें संदेह नहीं है।

८ आपः निरुद्धाः आसन्, अपां बिलं अपिहितं आसीत्, तत् वृत्रं जघन्वान् अप ववार (मं. ११)— जल-प्रवाह रुके थे, जलोंका द्वार (बहना) बंद था, वह

वृत्रका वध करके खोल दिया गया। सब जानते हैं कि 'बर्फ' ही जलके प्रवाहित रूपकी प्रतिबंधक स्थितिका नाम है। मेघमें भांप रहती है, जल नहीं। परंतु बर्फमें रुका हुआ जलही रहता है। सूर्य-किरण लगतेही वही रुका, जमा हुआ, जल पिघलकर बहने लगता है। इसलिये वृत्र-वध और जल-प्रवाह साथही साथ होनेवाली बात है।

इस तरह इन्द्र×वृत्र-युद्ध किरण×बर्फ-युद्धही है। सूर्य-किरणसे बर्फका वध निःसंदेह होताही है। मेघोंके साथ यह घटना हमेशाही होगी, ऐसी बात नहीं है। निरुक्तकारने 'पर्वत' का भी अर्थ 'मेघ' किया है, पर पर्वतका अर्थ 'बर्फाच्छादित पर्वत' समझनेपर वहां सूर्य-किरणोंसे वृत्रनाश होना और पर्वतोंसे नदियोंका बहना प्रत्यक्ष दीख सकता है। इसलिये 'पर्वत' पदका अर्थ 'मेघ' करनेकी अपेक्षा बर्फाच्छादित पर्वत-शिखर करना युक्ति युक्त है।

९ वृत्रं जघन्वान्, (मं.११) **सोमं अजयः- गा अजयः सप्त सिन्धून् सर्तवे अव असृजः** (मं. १२)— वृत्र का वध किया, सोमादि वनस्पतियाँ प्राप्त कीं, गौवें प्राप्त कीं, और सातों सिन्धु नदियोंका जल प्रवाहित कर दिया, सातों नदियाँ महापूरसे भर कर बहने लगीं। वृत्र-वधके पश्चात् सोमादि वनस्पतियोंकी प्राप्ति होनेका वर्णन पर्वतशिखर पर जो बर्फ रहता है, वह पिघलनेपर वहांकी सोमवनस्पतिकी प्राप्ति होना संभव है। बर्फके पिघलनेसे सप्त सिन्धुओंका महापूर आज भी प्रसिद्ध है और प्रत्यक्ष दीखनेवाला चमत्कार है। उत्तम जातकी सोमवल्ली बर्फानी शिखरोंपर होती है, १५००० फीट ऊंचाईपर बर्फ स्थानमें ही उत्कृष्ट सोम उगता है। वह बर्फ पडनेसे बर्फाच्छादित होता है, बर्फ पिघलनेपर सोम मिलता है। बर्फ के रूपमें वृत्रवध इस तरह सत्य है, मेघ-रूपमें ये घटनाएं वैसी प्रत्यक्ष नहीं हैं।

इस तरह सूक्तके सबके सब वर्णन बर्फके रूपमें जैसे घटते हैं, वैसे मेघके रूपमें सबके सब घटते नहीं, इसलिये वृत्रको बर्फ मानना योग्य है। इसका विचार आगे भी होगा। पाठक इसका अनुसंधान रखें।

वेदका धर्म रूपकालंकारसे प्रकट होता है। वह युद्ध-धर्म इस सूक्तसे प्रकट हुआ है, वह सनातन उपदेश है। इसी सूक्तमें वीरके गुण भी वर्णन किये हैं। पाठक इनको मंत्रोंमें देखें।

(३) युद्धविद्या

(ऋ. १।३३) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति ।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः ॥ १ ॥
उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि ।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन् ॥ २ ॥
नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि ।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥ ३ ॥
वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र ।
धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः ॥ ४ ॥
परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः ।
प्र यद् दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः ॥ ५ ॥
अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः ।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन् ॥ ६ ॥
त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे ।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥ ७ ॥

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः ।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण ८
परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम्।
अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र ९
न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन् ।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् १०
अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्याऽवर्धत मध्य आ नाव्यानाम् ।
सध्रीचीनेन मनसा तमिन्द्र ओजिष्ठेन हन्मनाहन्नभि द्यून् ११
न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।
यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् १२
अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून् वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत् ।
सं वज्रेणासृजद् वृत्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः १३
आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन् प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम् ।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ १४
आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम् ।
ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः १५

अन्वयः– आ इत गव्यन्तः (वयं) इन्द्रं उप अयाम । अनामृणः (इन्द्रः) अस्माकं प्रमतिं सु ववृधाति ! आत् अस्य रायः गवां परं केतं नः कुवित् आवर्जते ॥१॥

अर्थ— आओ ! गायें प्राप्त करनेकी इच्छासे (हम) इन्द्र के पास जायंगे । जिसका कभी पराजय नहीं होता (ऐसा यह इन्द्र) हमारी बुद्धि उत्तम रीतिसे बढायेगा । निःसंदेह इसकी (भक्ति) धनों और गायोंकी प्राप्तिका श्रेष्ठ ज्ञान हमें प्रदान करेगी ॥ १ ॥

जुष्टां वसतिं श्येनः न (तं) धनदां अप्रतीतं इन्द्रं अहं उपमेभिः अर्कैः नमस्यन् उप इत् पतामि। यः स्तोतृभ्यः यामन् हव्यः अस्ति॥ २ ॥

जैसा श्येन पक्षी अपने रहनेके घोसलेके पास दौडता है, वैसा (उस) धनदाता और अपराजित इन्द्रके पास, मैं उपासनाके योग्य स्तोत्रोंसे नमन करता हुआ, जा पहुंचता हूँ, यह (इन्द्र) भक्तोंके लिये युद्धके समय (सहायार्थ) बुलाने योग्य है ॥ २ ॥

सर्वसेनः इषुधीन् नि असक्त, अर्यः यस्य वष्टि गाः सं अजति । हे प्रवृद्ध इन्द्र ! भूरि वामं चोष्कूयमाणः, अस्मत् अधि पणिः मा भूः ॥ ३ ॥

सब सेनाओंके (सेनापति इन्द्र हैं, वे) तर्कसोंको (अपने पीठपर) धारण करते हैं, वे स्वामी (इन्द्र) जिसको (देना) चाहते हैं उसके पास गायें भेजते हैं । हे श्रेष्ठ इन्द्र ! हमें बहुत श्रेष्ठ धन देनेकी इच्छा करते हुए हमारे साथ बनिया जैसा व्यवहार न करना ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! उप शाकेभिः एकः चरन् धनिनं दस्युं घनेन वधीः हि । धनोः अधि विषुणक् ते वि आयन्। अयज्वनः सनकाः प्र-इतिं ईयुः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! शक्तिशाली वीरोंके साथ हमला करते हुए भी (अन्तमें तुम) अकेलेने ही चढाई करके धनी दस्यु (वृत्रका अपने) प्रचण्ड वज्रसे वध किया । तब (तुम्हारे) धनुष्यके ही ऊपर विशेष नाश होनेके लियेही मानो, वे सब चढाई करने लगे । (अर्थात् अन्तमें वे) यज्ञ न करनेवाले दानव मृत्युकोही प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! अयज्वनः यज्वभिः स्पर्धमानाः ते शीर्षा परा चित् ववृजुः । हे हरिवः स्थातः उग्र ! यत् दिवः रोदस्योः अव्रतान् निः प्र अधमः ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! स्वयं यज्ञ न करनेवाले (वे शत्रु) याचकोंके साथ स्पर्धा करनेके कारण अपना सिर घुमा कर दूर भगाये गये । हे घोडोंको जोतनेवाले, युद्धमें स्थिर उग्र वीर इन्द्र ! (तुमने) द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथ्वीसे धर्मव्रत-हीन दुष्टोंको भगा दिया है ॥ ५ ॥

अनवद्यस्य सेनां अयुयुत्सन्, नवग्वाः क्षितयः अयातयन्त । वृषायुधः वध्रयः न निरष्टाः श्वितयन्तः, इन्द्रात् प्रवद्भिः आयन् ॥ ६ ॥

निर्दोष (इन्द्र) की सेनाके साथ युद्ध करनेकी इच्छा (उन शत्रुओंने) की, तब नवीन गतिसे मानवोंने (उन सैनिकोंने उस शत्रुपर) चढाई की । बलिष्ठ शूर पुरुषोंके साथ (युद्ध करनेसे जो गति) नपूंसककी होती है, वैसीही, वे पराजित होकर (उनकी हो गयी और वे अपनी निर्बलता) मानकर, इन्द्रसे दूर भागते गये ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! त्वं रुदतः जक्षतः च एतान् रजसः पारे अयोधयः । दस्युं दिवः आ उच्चा अव अदहः सुन्वतः स्तुवतः शंसं प्र आवः ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! तुमने रोनेवाले या हंसनेवाले इन शत्रुओंको रजोलोकके परे युद्ध करके (भगा दिया) । इस दस्यु (वृत्र) को द्युलोकसे खींच कर (नीचे लाकर) अच्छी तरह जला दिया और सोम-याजकों तथा स्तोताओंकी स्तुतियोंकी उत्तम रक्षा की ॥ ७ ॥

हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः पृथिव्या परिणहं चक्राणासः हिन्वानासः ते इन्द्रं न तितिरुः । स्पशः सूर्येण परि अदधात् ॥ ८ ॥

सुवर्णों और रत्नोंसे (अपने आपको) शोभायमान करके पृथ्वीके ऊपर अपना प्रभाव (शत्रुओंने) जमाया था, (वे) बढतेही जाते थे, (पर) वे इन्द्रके साथ (युद्धमें) न ठहर सके । (अन्तमें शत्रुके) अनुचारोंको सूर्यके द्वारा पराभूत होना पडा ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! यत् उभे रोदसी महिना विश्वतः सीं परि अबुभोजीः । हे इन्द्र ! अमन्यमानान् अभि मन्यमानैः ब्रह्मभिः दस्युं निः अधमः ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! जब दोनों द्यु और भू लोकोंका अपनी महिमासे चारों ओरसे सब प्रकार (तुमने) उपभोग लिया, तब हे इन्द्र ! न माननेवालोंको (अर्थात् नास्तिकोंको भी) माननेवालोंके (आस्तिकोंके) द्वारा ज्ञान (पूर्वक की गयी अनेक योजनाओं) से शत्रुको परास्त किया ॥ ९ ॥

ये दिवः पृथिव्याः अन्तं न आपुः । धनदां मायाभिः न पर्यभूवन् । वृषभः इन्द्रः वज्रं युजं चक्रे । ज्योतिषा तमसः गाः निः अधुक्षत् ॥ १० ॥

जो द्यु लोकसे पृथ्वीतकके (अवकाशका) अन्तिम परिमाण न जान सके । जो धनदाता (इन्द्र) का कपट युक्तियोंसे भी पराभव न कर सके । (तब) बलवान् इन्द्रने वज्र ठीक तरह पकड लिया और प्रकाश द्वारा अन्धकारमेंसे गौओंको निकाल (कर प्राप्त करके, उसने उनका) दोहन किया ॥ १० ॥

आपः अस्य स्वधां अनु अक्षरन् । नाव्यानां मध्ये आ अवर्धत । इन्द्रः सध्रीचीनेन मनसा तं ओजिष्ठेन हन्मना अभि द्यून् अहन् ॥ ११ ॥

जल-प्रवाह इसके अन्नके अनुसार (खेतमेंसे) चलने लगे ! (परंतु वृत्र) नौकाओंद्वारा प्रवेश करने योग्य (नदियोंके) बीच बढ रहा था । इन्द्रने धैर्ययुक्त मनसे उस (शत्रु) को बलवान् घातक (वज्र) से कुछ एक दिनोंकी (अवधि) में मार दिया ॥११॥

इली-विशस्य दृळ्हा इन्द्रः नि अविध्यत्। शृङ्गिणं शुष्णं वि अभिनत्। हे मघवन्! यावत् तरः, यावत् ओजः पृतन्युं शत्रुं वज्रेण अवधीः ॥ १२ ॥

भूमिपर सोनेवाले (वृत्र) के सुदृढ (सैन्यों वा किलोंका) इन्द्रने वेध किया। और सींगवाले शोषक (वृत्र) को छिन्नभिन्न किया। हे धनवान् इन्द्र! (तुम्हारा) जितना वेग और जितना बल था, (उतनेसे तुमने) सेनाको साथ रखकर लडनेवाले शत्रुका वज्रसे वध किया ॥१२॥

अस्य सिध्मः शत्रून् अभि अजिगात्। तिग्मेन वृषभेण वज्रेण पुरः वि अभेत्। इन्द्रः वज्रेण सं असृजत्। शासदानः स्वां मतिं प्र अतिरत्॥ १३ ॥

इस (इन्द्र) का वज्र शत्रुओंके ऊपर आक्रमण करने लगा। तीक्ष्ण और बलशाली वज्रसे (उस इन्द्रने शत्रुके) नगरोंको तोड डाला। इन्द्रने वज्रसे (शत्रुपर) सम्यक् प्रहार किया। (तब) शत्रुनाशक (इन्द्रने) अपनी उत्तम विशाल बुद्धि प्रकट की ॥१३॥

हे इन्द्र! यस्मिन् चाकन् कुत्सं आवः। युध्यन्तं वृषभं दशद्युं प्र आवः। शफच्युतः रेणुः द्यां नक्षत। श्वैत्रेयः नृसह्याय उत् तस्थौ ॥ १४ ॥

हे इन्द्र! जिसमें (तुमने अपनी कृपा) रखी, उस कुत्सकी (तुमने) सुरक्षा की। युध्यमान बलवान् दशद्युकी (भी तुमने) रक्षा की। (उस समय तुम्हारे घोडोंके) खुरोंसे उडी धूली द्युलोक तक फैल गयी थी। श्वैत्रेय भी सब मानवोंमें अधिक समर्थ होनेके लिये (तुम्हारी कृपासे) ऊपर उठ गया ॥१४॥

हे मघवन्! क्षेत्रजेषे शर्मं वृषभं तुग्र्यासु गां श्वित्र्यं आवः। अत्र ज्योक् चित् तस्थिवांसः अक्रन्, शत्रूयतां अधरा वेदना अकः ॥ १५ ॥

हे धनवान् इन्द्र! क्षेत्र-प्राप्तिके युद्धमें शान्त बलवान् परंतु जलप्रवाहोंमें डूबनेवाले श्वित्र्यकी (तुमने) रक्षा की। यहां बहुत समय तक ठहरे हुए (हमारे शत्रु हमसे युद्ध) कर रहे थे, उन शत्रुओंको नीचे गिराकर (तुमने) ही दुःख दिया ॥१५॥

युद्धकी नीति

इस सूक्तमें भी युद्ध करनेकी नीतिका उल्लेख विचार करने योग्य है।

१ अनामृणः (मं.१) (अन+आ+मृण)-मृणः=हिंसित; आमृणः=चारों ओरसे विनष्ट, **अनामृणः** = किसी तरह हिंसित न हुआ। वीर ऐसा हो।

२ सर्वसेनः इषुधीन् नि असक्त (मं. ३)-सब सेना तथा उसके सेनापति अपने शस्त्रास्त्रोंसे सज्ज हों।

३ उपशाकेभिः चरन् एकः दस्युं घनेन वधीः (मं.४) सैनिकोंके साथ चलनेवाले सेनापतिने प्रसंगविशेषमें अकेलेने भी अपने शस्त्रास्त्र चलाकर शत्रुका वध करना उचित है।

४ धनोः अधि, विषुणक्, ते व्यायन्, सनकाः प्रेतिं ईयुः (मं ४)-धनुष्यादि शस्त्रसंग्रह पर, अपना नाश कर लेनेके लिये हि मानो, वे शत्रु-सैनिक चढाई करके आये, पर उन शत्रुओंका विनाशही हुआ। यहां शत्रु-सैनिक अपनी असावधानीसे लाभ उठाना चाहते हैं, उस समय स्वयं सावधान रह कर उनका नाश करना उचित है, यह तात्पर्य है। इन्द्रके धनुष्यपर अथवा शस्त्रागारपर शत्रुओंने हमला किया (वि-सु-नश्, नक्) विशेष नाश ही उसका परिणाम हुआ। ऐसा ही होना चाहिये। 'सनक' का अर्थ यहां 'दानव, असुर, दस्यु, शत्रु' ऐसा है। '**दानव**' का मूल अर्थ 'दाता' ऐसा है, वैसा ही '**सनक**' का अर्थ 'दाता' है। पर ये पद विशेष प्रसंगमें शत्रुवाचक बने है। '**असुर**' शब्द भी देववाचक और राक्षसवाचक प्रसिद्ध है। जो शत्रु हमला करेंगे, उनका पूर्ण नाश होना चाहिये।

५ स्पर्धमानाः शीर्षा परा ववृजुः । (मं. ५)-हमसे स्पर्धा करनेवाले हमारे शत्रु सिर नीचा करके दूर भाग गये। यह हरएक वीरका साध्य है। शत्रुके साथ युद्ध करनेकी तैयारी करनेके पूर्व अपनी ऐसी शक्ति बढानी चाहिये।

६ स्थाता उग्रः अव्रतान् निः प्र अधमः । (मं. ५) युद्धमें स्थिर रहनेवाला उग्र वीर अनियमसे चलनेवाले दुष्ट शत्रुओंको निःशेष करे और दूर भगा देवे। यह है युद्ध की पद्धति और युद्ध की नीति। शत्रुको परास्त करनेके कार्यसे पीछे नहीं

हटना चाहिये।

७ अनवद्यस्य सेनां अयुयुत्सन्, नवग्वाः क्षितयः अयातयन्त (मं. ६)-निर्दोष उग्रवीर की सेनाके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले शत्रुओंपर, नूतन युद्धकी गतिमें प्रवीण हुए सैनिक ही हमला करें। यहां '**नव-ग्वाः**' और '**क्षितिः**' ये पद बडे महत्त्वके हैं। 'नव-ग्वाः' का अर्थ 'नव-गतयः' अर्थात् नवीन गतिसे शत्रुपर हमला करनेमें चतुर, युद्ध-पद्धतिमें जिन्होंने नयी प्रगति की है, 'क्षितयः' का अर्थ 'देशके निवासी, मानव, सैनिक' है। 'नव-ग्वः' के अनेक अर्थ हैं, नौ गौवोंका पालन करनेवाला, नौ मासोंमें यज्ञ समाप्त करनेवाला, तथा नवीन गतिसे युक्त।

८ वृषायुधः, वध्रयः न (मं. ६)-अपने सैनिक प्रखर शस्त्र बर्तनेवाले शूरवीरोंके समान हों, और शत्रुके सैनिक उनके सामने शक्तिहीन नपुंसक-जैसे हों।

९ निरष्टाः चितयन्तः प्रवद्भिः आयन् (मं. ६)— शत्रुके सैनिक पराजित होते हुए अपना पराभव मानकर नीचे के मार्गसे दूर भाग जावें।

१० रुदतः जक्षतः रजसः पारे अयोधयः, दस्युं आ अव अदहः (मंत्र. ७)-शत्रु रोते रहें या आनन्दमें रहें, उनको अपने स्थानसे युद्ध करके दूर भगा दो, शत्रुको जला दो।

११ हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः पृथिव्याः परिणहं चक्राणासः हिन्वानासः ते (नः) न तितिरुः (मं. ८)-सुवर्णके और रत्नोंके आभूषण धारण करते हुए हमारे शत्रु इसी पृथ्वीपर बडा ऊंचा सिर करके बडी आढ्यतासे चारों ओर भ्रमण कर रहे हैं, वे बढते ही जा रहे हैं, पर वे (हमारे वीरोंको) पार नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यही है कि अपनी तैयारी शत्रुसे बढकर करनी चाहिये, तब विजय होगा।

१२ स्पशः परि अदधात् (मं ८)-शत्रुके गुप्तचरोंको चारों ओरसे पकडना चाहिये। **स्पशः**-शत्रुके गुप्तचर। ये बडा घात करते हैं, सब गुप्त ज्ञान शत्रुको पहुंचाते हैं। इसलिये इनको चारों ओरसे घेर कर पकडकर रखना चाहिये। अपने देशमें शत्रुके गुप्तचर पूर्ण स्वतंत्रतासे न घूम सकें इस विषयका संपूर्ण यत्न करना चाहिये।

१३ अमन्यमानान् दस्युं मन्यमानैः नि अधमः (मं. ९)-अपना कथन न माननेवाले शत्रुओंको अपना कथन माननेवाले मित्रोंसे दूर करना चाहिये। पूर्व किये संधिको न मान कर जो विनाकारण आक्रमण करते हैं वे शत्रु हैं, उनके साथ लडनेके लिये पूर्व की संधि माननेवाले मित्र सैनिकोंको नियुक्त करना चाहिये। युद्ध छिडनेके समय ऐसे शत्रु मित्रोंको व्यवस्थित रीतिसे निश्चित करना चाहिये।

१४ मायाभिः न पर्यभूवन् (मं. १०)— कपट युक्तियोंसे भी जो शत्रु पराभव नहीं कर सकते। अपनी शक्ति इतनी बढानी चाहिये कि जो शत्रुके कपट प्रयोगोंसे भी कभी पराजित न हो सके।

१५ आपः स्वधां अनु अक्षरन् (मं. ११)—जल-प्रवाह अन्नके बढानेके अनुकूल चलते रहें। जलोंके नहरोंसे अन्नकी उपज अधिक करनी चाहिये। यह एक अन्तर्गत सुस्थिति रखनेका मुख्य कार्य है।

१६ सध्रीचीनेन मनसा ओजिष्ठेन हन्मना तं अहन् (मं. ११)— (अपने वीरोंको उचित है कि वे) धैर्ययुक्त मनसे, शान्तचित्तसे, परंतु अधिक प्रबल शस्त्रसे शत्रु पर हमला करें। युद्धके समय अपना मन मित्रभावयुक्त शान्त रहे, अशान्त न हो, परंतु शत्रु पर अधिकसे अधिक शस्त्र चलाया जावे। अपनी घबराहट न होवे, परंतु शत्रुकी घबराहट हो जाय।

१७ इलीविशस्य दृळ्हा नि अविध्यत्। शृङ्गिणं शुष्णं वि अभिनत्। यावत् तरः, यावत् ओजः पृतन्यु शत्रुं वज्रेण अवधीः (मं. १२)— अपनी मातृ-भूमिपर घर किये शत्रुके सुदृढ किलोंको तोड दो। तीक्ष्ण शस्त्रोंसे बलवान् बने शत्रुको छिन्नभिन्न करो। जहांतक अपना वेग बढ सकेगा और जहांतक अपनी शक्ति बढ सकेगी, वहांतक यत्न करके अपने शत्रुको अपनेही शस्त्रसे विनष्ट करो।

१८ सिध्मः शत्रून् अभि अजिगात्। पुरः वि अभेत्। (मं. १३)— हमारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, शत्रुके नगरोंको छिन्नभिन्न करो।

१९ शासदानः स्वां मतिं अतिरत्। (मं. १३)-शत्रुका नाश करनेकी इच्छा करनेवाला वीर अपनी मतिको शत्रुसे अधिक सामर्थ्यवान् बनावे। शत्रुकी मतिको अपनी मति पा कर सके।

२० शश्रयतां वेदना अधरा अकः (मं. १५)-शत्रु का ज्ञान कम करो, अर्थात् अपना ज्ञान उनसे बडा दो अथवा शत्रुको हीन प्रकारके-वेदना-दुःख हों ऐसा करो। **वेदना**-ज्ञान, दुःख।

इतने मंत्र-भागोंमें युद्धनीतिका बहुत वर्णन है । पाठक इस दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करके युद्धनीतिका ज्ञान प्राप्त करें ।

वृत्रका स्वरूप

इस सूक्तमें वृत्रका स्वरूप बतानेवाला यह वाक्य है—

१ नाव्यानां मध्ये आ अवर्धत (मं. ११)— नदियोंके बीचमें (वृत्र) बढ रहा था। अर्थात् यह वृत्र मेघ नहीं हो सकता, क्यों कि नदियोंमें मेघ नहीं होता, नदियोंमें बर्फ होता है । सर्दीके दिनोंमें कई नदियोंके जल बर्फ बनकर सख्त पत्थर जैसे होते हैं । रूसमें ऐसी नदियाँ बहुत हैं, जिनके जल-प्रवाह भूमि जैसे सख्त होते हैं। और उसपरसे मनुष्य तथा यान भी जा सकते हैं । यही नदियोंमें वृत्रका बढना है । इससे स्पष्ट होता है कि वृत्र मेघ नहीं है, परंतु बर्फ है ।

यह सूक्त युद्धविषयक ज्ञान अति स्पष्ट रूपसे देता है, इस लिये क्षात्र विद्याका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये इसका विशेष मनन होना योग्य है। शेष बातें मंत्रोंके अर्थमेंही स्पष्ट है ।

(४) आरोग्य और दीर्घायु

(ऋ. १।३४) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । आश्विनौ । जगती; ९,१२ । त्रिष्टुप् ।

त्रिश्चिन् नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना ।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः　　१
त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद् विदुः ।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा　　२
समाने अहन् त्रिरवद्यगोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम् ।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम्　　३
त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम् ।
त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवं त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्　　४
त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना युवं त्रिर्देवताता त्रिरुतावतं धियः ।
त्रिः सौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नस् त्रिष्ठं वां सूरे दुहिता रुहद् रथम्　　५
त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः ।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती　　६
त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम् ।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्　　७
त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस् त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम् ।
तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तुभिर्हितम्　　८
क्व१ त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व१ त्रयो वन्धुरो ये सनीळाः ।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः　　९
आ नासत्या गच्छतं हूयते हविर्मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिः ।
युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति　　१०
आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा　　११
आ नो अश्विना त्रिवृता रथेनाऽर्वाञ्चं रयिं वहतं सुवीरम् ।
शृण्वन्ता वामवसे जोहवीमि वृधे च नो भवतं वाजसातौ　　१२

अन्वयः-हे नवेदसा अश्विना! त्रिः चित् अद्य नः भवतम्। वां यामः विभुः उत रातिः (विभुः)। युवोः यन्त्रं हि, वाससः हिम्या इव। मनीषिभिः अभ्यायंसेन्या भवतम्॥ १॥

अर्थ- हे ज्ञानी अश्विदेवो! तीन वार आज हमारे (यहां) आओ। आपका मार्ग बडा है और (आपका) दान (भी बडा है)। तुम दोनोंका संबंध, दिन और रात्रिके समान है। बुद्धिमानोंके साथ नित्य संबंध रखनेवाले हो जाओ॥ १॥

मधुवाहने रथे पवयः त्रयः। इत् विश्वे सोमस्य वेनां अनु विदुः। स्कम्भासः त्रयः स्कभितासः आरभे। हे अश्विना! नक्तं त्रिः याथः, दिवा त्रिः उ॥ २॥

तुम्हारे मधुर अन्न लानेवाले रथमें चक्र तीन हैं। उन्हे सबने सोमका वेनाके (साथ विवाह संबंध होनेके समय) जाना था। उस (रथमें) तीन स्तम्भ आश्रयके लिये रखे हैं। हे अश्विदेवो! (इस रथसे तुम दोनों) रात्रीमें तीन वार और दिनमें तीन वार जाते हैं॥ २॥

हे अश्विना। युवं समाने अहन् त्रिः अवद्यगोहना (भवतं)। अद्य यज्ञं मधुना त्रिः मिमिक्षतम्। दोषाः उषसः च वाजवतीः इषः त्रिः अस्मभ्यं पिन्वतम्॥ ३॥

हे अश्विदेवो! तुम एकही दिनमें तीन वार पापसे बचानेवाले (हो)। आज यमारे यज्ञपर मधुर रसकी तीन वार वृष्टि करो। रात्रिमें और उषाके (पश्चात् आनेवाले दिनमें) बलवर्धक अन्नसे तीन वार हमारा पोषण करो॥ ३॥

हे अश्विना! युवं त्रिः वर्तिः यातं। अनुव्रते जने त्रिः (गच्छतं)। सुप्राव्ये त्रिः। त्रेधा इव शिक्षतम्। नान्द्यं त्रिः वहतम्। अस्मे, अक्षरा इव, पृक्षः त्रिः पिन्वतम्॥ ४॥

हे अश्विदेवो! तुम तीन वार निवासस्थानके पास जाओ। अनुकूल कार्य करनेवाले मनुष्यके पास तीनवार जाओ। सुरक्षाके लिये तीन वार जाओ। तीन वार शिक्षा दो। आनन्द देनेवाला फल (हमें) तीन वार लेते आओ। हमें, जलके समान अन्न भी तीन वार दो॥ ४॥

हे अश्विना। युवं नः रयिं त्रिः वहतम्। देवताता त्रिः उत धियः त्रिः अवतम्। सौभगत्वं त्रिः, उत श्रवांसि नः त्रिः (वहतं)। वां त्रिचक्रं रथं सूरे दुहिता आरुहत्॥ ५॥

हे अश्विदेवो! तुम हमारे लिये धन तीन वार ले आओ। देवताओंके यज्ञमें तीन वार आओ और हमारी बुद्धियोंकी सुरक्षा तीन वार करो। सौभाग्य तीन वार दो और यश हमें तीन वार (दो)। तुम्हारे तीन चक्रवाले रथपर सूर्यकी पुत्री चढी है॥ ५॥

हे अश्विना! नः दिव्यानि भेषजा त्रिः, पार्थिवानि त्रिः, अद्भयः उ त्रिः दत्तम्। शंयोः ओमानं ममकाय सूनवे (दत्तम्)। हे शुभस्पती! त्रिधातु शर्म वहतम्॥ ६॥

हे अश्विदेवो! हमें दिव्य औषधि तीन वार दो, पार्थिव औषधि तीन वार दो और जलोंसे (अन्तरिक्षसे) तीन बार दो। शंयुकी (जैसी) सुरक्षा (की थी वैसी) मेरे पुत्रके लिये (सुरक्षा दो)। हे शुभके रक्षको! तीन धातुओं (की सुरक्षासे हमें) सुख दो॥ ६॥

हे अश्विना! दिवे दिवे यजता नः पृथिवीं परि त्रिधातुः त्रिः अशायतम्। हे रथ्या नासत्या! परावतः तिस्रः, स्वसराणि आत्मा इव, गच्छतम्॥ ७॥

हे अश्विदेवो! प्रतिदिन यज्ञ करनेवाले हम जैसोंके पास पृथ्वीपर तीन धातुओंकी शक्ति लेते हुए तीन वार आकर विश्राम करो। हे रथी वीरो! हे सत्य-पालको! दूर देशसे तीन वार, शरीरोंमें आत्मा घुसनेके समान, आओ॥ ७॥

हे अश्विनाः सप्त मातृभिः सिन्धुभिः त्रिः, आहावा त्रयः, त्रेधा हविः कृतम्। तिस्रः पृथिवीः उपरि प्रवा दिवा शुभिः अक्तुभिः हितं नाकं रक्षेथे॥ ८॥

हे अश्विदेवो! माताओंके समान सात नदियों (के जल) से तीन (पात्र भर दिये हैं, यहां) रस पात्र तीन हैं, तीन प्रकारका हवि किया है। तीन पृथ्वी (के भागों) पर दिनमें जाकर दिनों और रात्रियोंसे रखे सूर्यकी सुरक्षा तुमने की थी॥ ८॥

हे नासत्या ! त्रिवृतः रथस्य त्री चक्रा क ? ये सनीळाः बन्धुरः त्रयः क ? वाजिनः रासभस्य योगः कदा ? येन यज्ञं उपयाथः ॥ ९ ॥

हे सत्यके रक्षको ! तुम्हारे त्रिकोणाकृति रथके तीन चक्र कहां हैं ? जो बैठनेकी अच्छी बंधी बैठकें तीन हैं, वे कहां हैं ? बलवान् गर्दभको जोडना कब होगा, जिससे तुम इस यज्ञमें आते हो ? ॥ ९ ॥

हे नासत्या ! आगच्छतं, हविः हूयते । (युवां) मधुपेभिः आसभिः मध्वः पिबतम् । सविता उषसः पूर्वं युवोः चित्रं घृतवन्तं रथं ऋताय इष्यति हि ॥ १० ॥

हे सत्यके पालको ! आओ, (यहां) हवन किया जाता है। (तुम दोनों) मधुर रस पीनेवाले (अपने) मुखोंसे इस मधुर रसका पान करो। सविताने उषाके पूर्वही तुम्हारे सुन्दर घीसे भरपूर भरे रथको सत्यके मार्गसे प्रेरित किया है ॥ १० ॥

हे नासत्या अश्विना ! त्रिभिः एकादशैः देवेभिः मधुपेयं इह आ यातम् । आयुः प्र तारिष्टं, रपांसि नि मृक्षतं, द्वेषः सेधतं, सचाभुवा भवतम् ॥ ११ ॥

हे सत्यके रक्षक अश्विदेवो ! तीन वार ग्यारह (अर्थात्) तैंतीस देवोंके साथ मधुर रसका पान करनेके लिये यहां आओ। हमारी आयुको बढाओ, दोषोंको दूर करो, द्वेषियोंको रोक दो और (तुम) हमारे साथ रहो ॥ ११ ॥

हे अश्विना ! त्रिवृता रथेन नः अर्वाञ्चं सुवीरं रयिं आ वहतम् । शृण्वन्ता, अवसे वां जोहवीमि । वाजसातौ नः वृधे च भवतम् ॥ १२ ॥

हे अश्विदेवो ! त्रिकोण रथसे हमारे पास उत्तम वीरोंसे युक्त धन ले आओ। (तुम) सुनो, हमारी सुरक्षाके लिये हम तुम्हारी प्रार्थना करते हैं। बलकी वृद्धिके लिये किये हमारे (प्रयत्नमें) हमारी वृद्धि करनेके लिये (यत्नवान्) हो जाओ ॥ १२ ॥

औषधि-प्रयोग

अश्विदेवोंके औषधि प्रयोगोंके विषयमें सब जानते हैं। इस सूक्तके ग्यारहवें मंत्रमें जो बातें कहीं हैं उनका विचार कीजिये, जिससे सूक्तके मुख्य विषयका पता लग जायगा। ग्यारहवें मंत्रके विचारणीय विभाग ये हैं-

१. आयुः प्र तारिष्टं-हमारी आयुको विशेष बढाओ,

२. रपांसि नि मृक्षतं-दोषों, पापों और घावोंको निःशेष शुद्ध करके दूर करो। '**रपस्**'=दोष, पाप, घाव। '**मृक्षतं**' =शुद्ध करो। शुद्धता करके दोषोंको, पापोंको और घावोंको दूर करो।

३. द्वेषः सेधतं-द्वेष करनेवाले वैरियोंको दूर भगा दो, द्वेष करने योग्य रोगोंका प्रतिबंध करो, रोग आनेके पूर्व ही उनका प्रतिबंध करो।

४. त्रिभिः एकादशैः देवेभिः आ यातं-तैंतीस देवोंके साथ आ जाओ।

यहां दीर्घ आयुको प्राप्त करना, उसके लिये शरीरको दोषरहित अर्थात् शुद्ध करना, मनको निष्पाप बनाना और व्रण आदि हुआ तो उसको शुद्धता करके ठीक करना चाहिये। इसीका नाम आरोग्य है। 'रपः' के जो तीन अर्थ हैं, वे मन और शरीरके दोषोंको बता रहे हैं। पाप मनका दोष है, पापभावयुक्त मनसे शरीर दोषयुक्त बनता है और रोग होते हैं, जिससे आयुकी क्षीणता होती है। इसलिये यदि दीर्घ आयु चाहिये, तो मन शुद्ध रहना चाहिये अर्थात् मन निष्पाप बनाना चाहिये। शरीरके दोष दो हैं, एक आन्तरिक मल जो शरीरके अन्तर्भागमें संचित होकर अन्दर और बाहर रोग उत्पन्न करते हैं और दूसरे शरीरपर होनेवाले घाव आदि है। ये दोनों स्वच्छता तथा पवित्रता करनेसे दूर होते हैं। 'रपः' पदके तीनों अर्थोंके साथ आरोग्यका इस तरह संबंध है और यह संबंध ध्यानमें धारण करनेसे ही सूक्तका जो ध्येय आरोग्य है, उसका ज्ञान हो सकता है।

आयुको अति दीर्घ करना चाहिये। अल्पायुमें कोई न मरे। मूल आयु १०० वर्षोंकी है, पर यह पुरुषार्थकी आयु है। '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।**' (वा. य. ४०।२, ईश उ. २)= कर्मोंको करते हुए सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा मनुष्य करे। अर्थात इससे पूर्व कर्म करनेकी योग्यता मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। आठ वर्षका बाल्य और १२ वर्षोंका ब्रह्मचर्य मिलकर बीस वर्षोंमें उक्त योग्यता मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इसके बाद ही वह सौ वर्ष

शुभ कर्म करते हुए जीवित रहनेकी इच्छा कर सकता है। १००+२०=१२० एक सौ बीस वर्षोंकी आयु इस तरह सर्व-साधारण नागरिक की है। आजकलकी जन्मपत्रिकाएँ १२० वर्षोंकी आयु मानकर ही की जाती हैं। ' **आयुः प्र तारिषं** ' में आयु की प्रकर्षसे वृद्धि करनेकी जो बात मंत्रमें कही है वह सिद्ध करती है कि पुरुषार्थ प्रयत्नसे मानवकी आयु १२०वर्षों से भी अधिक बढाई जा सकती है। इसी कार्यके लिये इस मंत्रमें शारीरिक और मानसिक दोषोंको दूर करनेका उपाय लिखा है।

तैंतीस देवोंके साथ अश्विदेवोंका आना आरोग्यके लिये अत्यंत उपयोगी है। तैंतीस देवोंकी सहायतासे ही औषधि-प्रयोग किये जाते हैं। मृत्तिकाचिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्नि-सूर्य-विद्युच्चिकित्सा, औषधिचिकित्सा, वायुचिकित्सा, प्राणायामचिकित्सा इनमें तैंतीस देवोंका ही उपयोग किया जाता है। औषधियोंको तैयार करनेमें कई देवताओंका उपयोग किया जाता है। इस तरह विचार करनेसे सहज ही से पता लग सकता है कि इन तैंतीस देवताओंकी सहायतासे ही मानवको दीर्घ जीवन प्राप्त करनेकी संभावना है।

यह सब विचार करने योग्य विषय है और इसका परिणाम सुखपूर्ण दीर्घायु ही है। ' **द्वेषोंको रोकने** ' का भाव यह है कि प्रथम अपने मनके विद्वेषके भाव दूर करना, समाजके द्वेषणीय शत्रुओंको दूर करना, तथा द्वेष करने योग्य जो अनिष्ट परिस्थिति है उसको पूर्णतया दूर करना चाहिये। दीर्घ आयु होनेके लिये समाज भी उत्तम सुसंस्कृत और निर्दोष होना आवश्यक है। यह सब पाठक मनन करके जान सकते हैं।

छठे मंत्रमें औषधोंका उल्लेख है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, जल और आकाशमें औषधियां रहती हैं, (**पार्थिवानि, अद्भयः, दिव्यानि भेषजा दत्तं** । (मं.६) पृथ्वीपर उत्पन्न होनेवाली, जलमें उत्पन्न होनेवाली और आकाशमें उत्पन्न होनेवाली औषधियाँ अनेक हैं। पृथ्वीपर वृक्ष वनस्पतियां तथा खनिज पदार्थ औषधोंमें बर्ते जाते हैं। जलमें, पर्वतपर तथा आकाशमें वायु सूर्य आदि पदार्थ हैं। इनमें दैवी सामर्थ्य है जिससे रोग दूर होते हैं।

५. ' **शंयोः ओमानं** ' इसी छठे मंत्रमें कहा है। '**ओमानं**' =रक्षण, संरक्षण; '**शं**' = कल्याण, सुख, शान्ति और '**यु**'= वियुक्त करना और संयुक्त करना, अर्थात् विपरीत भावोंसे वियुक्त और अनुकूल भावोंसे संयुक्त करना। रक्षणका यही अर्थ है। दीर्घायु प्राप्त करनेके लिये जिनसे मेल होना उचित है उनसे मेल करना और जिनसे वियुक्त होना योग्य है उनसे दूर होना और शान्तिसुख प्राप्त करना। यह एक बडा भारी पथ्य है।

६ ' **त्रिधातु शर्म वहतं** ' (मं. ६)= शरीरमें कफ, पित्त, वात ये तीन धातु हैं, स्वास्थ्य और आरोग्यके लिये इनकी समताकी स्थापना करना आवश्यक है। इसीका नाम ' शर्म ' या सुख है। वह प्राप्त करना चाहिये। वैद्योंका यही कर्तव्य है कि वे शरीरके तीनों धातुओंका वैषम्य दूर करके साम्य स्थापन करें।

७ **अवद्य-गोहना** (मं. ३)= निंदा करनेयोग्य जो रोग आदि परिस्थिति है, उसका नाश करनेवाले ये वैद्य हैं। रोगादिकी परिस्थिति अत्यंत निंदनीय है, इसीलिये उसको दूर करना चाहिये।

८ '**वाजवतीः इषः अस्मभ्यं पिन्वतं** (मं. ३)= बलवर्धक अन्न देकर हम सबको हृष्ट-पुष्ट करो। कई अन्न बलवर्धक होते हैं और कई बलनाशक होते हैं। अतः बलवर्धक अन्नोंकाही सेवन करना चाहिये और क्षीणता करनेवाले पदार्थोंसे दूर रहना चाहिये।

९ '**पृक्षः त्रिः पिन्वतं** (मं. ४) = अन्न तीन वार दो। रोगीको थोडा थोडा अन्न तीन वार देकर पुष्ट करना चाहिये।

१० **रयिं, धियः, सौभाग्यं, श्रवांसि वहतं** (मं.५) = धन, बुद्धियां, सौभाग्य और यश हमें दे दो। ये ही तो मनुष्यको चाहिये। इन्हींसे मानवी जीवनकी सफलता होती है।

११ **मध्वः पिबतं** (मं.१०) = मधुर रसका पान करो। फलोंके तथा सोमादि वनस्पतियोंके मधुर रसका पान करो। यह रस रोगनिवारक, उत्साहवर्धक और बलवर्धक है।

१२ **सुवीरं रयिं आ वहतं** (मं. १२) = उत्तम वीर जिसके साथ रहते हैं, ऐसा धन हमें ले आओ। अर्थात् धन भी चाहिये और उसकी सुरक्षा करनेके लिये वीरता भी चाहिये।

इस सूक्तके ये निर्देश मनन करनेयोग्य हैं। शेष भाग काव्यमय है, जो मननद्वारा पाठक अच्छी तरह जान सकते हैं।

(५) सविता देव

(ऋ. १।३५) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । १ (पादानां क्रमेण) अग्निः, मित्रावरुणौ, रात्रिः, सविता च।
२-११ सविता । त्रिष्टुप् १, ९ जगती ।

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे ।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये १
आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽ देवो याति भुवनानि पश्यन् २
याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् ।
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः ३
अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् ।
आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ४
वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः ।
शश्वद् विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः ५
तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ६
वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः ।
केदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ७
अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ८
हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ९
हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद् देवः प्रतिदोषं गृणानः १०
ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ११

अन्वयः—स्वस्तये प्रथमं अग्निं ह्वयामि । इह अवसे मित्रावरुणौ ह्वयामि । जगतः निवेशनीं रात्रीं ह्वयामि । ऊतये सवितारं देवं ह्वयामि ॥ १ ॥

अर्थ- कल्याणके लिये प्रथम अग्निकी मैं प्रार्थना करता हूं। यहां सुरक्षितताके लिये मित्र और वरुणको मैं बुलाता हूं। जगत् को विश्राम देनेवाली रात्रिकी मैं प्रार्थना करता हूं और अपनी सुरक्षाके लिये सविता देवका आवाहन मैं करता हूं ॥ १ ॥

कृष्णेन रजसा आ वर्तमानः, अमृतं मर्त्यं च निवेशयन्, सविता देवः भुवनानि पश्यन्, हिरण्ययेन रथेन आ याति ॥ २ ॥

अन्धकारसे युक्त अन्तरिक्षलोकमेंसे परिभ्रमण करनेवाले, अमर्त्य और मर्त्यका निवेश करनेवाले, सविता देव सब भुवनों को देखते हुए, सुवर्णके रथसे आते हैं ॥ २ ॥

*

देवः सविता प्रवता याति, उद्वता याति, यजतः शुभ्राभ्यां हरिभ्यां याति। सविता देवः विश्वा दुरिता अपबाधमानः परावतः आ याति ॥ ३ ॥

सविता देव (प्रथम) ऊंचाईके मार्गसे (ऊपर चढकर) जाते हैं, (और पश्चात्) अधोगामी मार्गसे (नीचे उतरते हुए) चलते हैं। पूजाके योग्य (ये सूर्यदेव) सफेद घोडोंसे गमन करते हैं। ये सविता देव सब पापोंको रोकनेके लिये दूर देशसे आते हैं ॥ ३ ॥

अभिवृतं, कृशनैः विश्वरूपं, हिरण्यशम्यं बृहन्तं रथं, यजतः चित्रभानुः, कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः सविता आ अस्थात् ॥ ४ ॥

सतत गतिशील, सुवर्णादिके कारण, सुंदर नानारूपवाले, सुवर्णकी रस्सीयोंसे (किरणोंसे) युक्त बडे रथपर, पूजनीय चित्र-विचित्र किरणोंवाले और अन्धकारका नाश करनेवाले प्रकाशका धारण अपने बलसे करनेवाले सविता देव चढ बैठे हैं ॥ ४ ॥

श्यावाः शितिपादः, हिरण्यप्रउगं रथं वहन्तः, जनान् वि अख्यत्। शश्वत् विश्वा भुवनानि विशः दैव्यस्य सवितुः उपस्थे तस्थुः ॥ ५ ॥

सूर्यके घोडे सफेद पैरोंवाले (हैं, वे) सुवर्णके युगवाले रथको ढोते (हैं, जो) मानवोंके लिये प्रकाश देते हैं। सर्वदा सभी भुवन और सब प्रजाजन दिव्य सविता देवके समीप उपस्थित होते हैं ॥ ५ ॥

द्यावः तिस्रः, द्वा सवितुः उपस्था, एका यमस्य भुवने विराषाट्। रथ्यं आणिं न, अमृता अधि तस्थुः। यः तत् चिकेतत् उ, (सः) इह ब्रवीतु ॥ ६ ॥

तीन दिव्य लोक हैं, (उनमेंसे) दो (लोक) सविता देवके पास हैं और तीसरा लोक यमके भुवनमें वीरोंके लिये रहनेका स्थान देता है। रथके अक्षमें रहनेवाली खीलेके समान, (सब) अमर (देव सूर्यपर) अधिष्ठित हैं। जो यह जानता है, (वह) यहां आकर कहे ॥ ६ ॥

गभीरवेपाः, असुरः, सुनीथः, सुपर्णः, अन्तरिक्षाणि वि अख्यत्। सुनीथः सूर्यः इदानीं क ? कः चिकेत ? अस्य रश्मिः कतमां द्यां आ ततान ? ॥ ७ ॥

गम्भीर गतिसे युक्त, प्राणशक्तिका दाता, उत्तम मार्ग-दर्शक, उत्तम प्रकाश देनेवाला (सूर्यदेव) अन्तरिक्षादि तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है। इस समय (रात्रिके समय) कहां है ? कौन जानता है ? उस (सूर्य) का किरण किस द्युलोकमें फैला होगा ? ॥ ७ ॥

पृथिव्याः अष्टौ ककुभः, योजना धन्व त्रिः, सप्त सिन्धून् (सविता) वि अख्यत्। हिरण्याक्षः सविता देवः, दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत्, आ गात् ॥ ८ ॥

पृथ्वीकी आठों दिशाएं, (परस्पर) संयुक्त हुए तीनों लोक और सात सिन्धु (नदियां सविता देवने) प्रकाशित की हैं। सुवर्णके समान तेजस्वी किरणवाला यह सविता देव, दाताके लिये स्वीकार करनेयोग्य रत्नोंको देता हुआ, समीप आया है ॥ ८ ॥

हिरण्यपाणिः विचर्षणिः सविता उभे द्यावापृथिवी अन्तः ईयते। अमीवां अप बाधते, सूर्यं वेति, कृष्णेन रजसा द्यां अभि ऋणोति ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान किरणवाला सर्वत्र संचार करनेवाला सविता देव दोनों द्यावापृथिवीके बीचमें संचार करता है, रोगोंको दूर करता है, (इसीको) सूर्य कहते हैं, प्रकाश-हीन अन्तरिक्ष लोकसे द्युलोक तक प्रकाशित करता है ॥ ९ ॥

हिरण्यहस्तः असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववान् अर्वाङ् यातु। देवः प्रतिदोषं गृणानः, रक्षसः यातुधानान् अपसेधन्, अस्थात् ॥ १० ॥

सुवर्ण जैसे किरणवाला, प्राणशक्तिका दाता, उत्तम नेता, सुख-दाता, निज शक्तिसे संपन्न (सविता देव) यहां आवे। यह (सविता) देव प्रत्येक रात्रिमें स्तुति किया जानेपर राक्षसों और यातना देनेवालोंको दूर करता हुआ, यहां आवे ॥ १० ॥

हे सवितः ! ये ते पन्थाः पूर्व्यासः अरेणवः अन्तरिक्षे सुकृताः, सुगेभिः तेभिः पथिभिः अद्य नः रक्ष च, हे देव! नः अधि ब्रूहि च ॥ ११ ॥

हे सविता देव ! जो तुम्हारे मार्ग पहिलेसे निश्चित हुए, धूलिरहित और अन्तरिक्षमें उत्तम निर्माण किये हैं, उत्तम जानेयोग्य उन मार्गोंसे आज हमारी सुरक्षा करो औ हे देव ! हमें आशीर्वाद दो ॥ ११ ॥

विना धूलिके मार्ग

इस सूक्तमें विना धूलिके मार्गोंका उल्लेख है। ये (पन्थाः पूर्व्यासः अरेणवः) मार्ग पहिलेसे बने हैं और धूलिरहित हैं। ये (सु-कृताः) उत्तम रीतिसे बनाये हैं, कुशलतासे बनाये हैं। (सुगेभिः पथिभिः) ये मार्ग चलनेके लिये सुगम हैं, चलनेवालोंको किसी तरह कष्ट नहीं होते। (प्रवता) चढाईका मार्ग और (उद्वता) उतराईका मार्ग ऐसे दो भेद हैं। इस वर्णनसे पता चलता है कि इस सूक्तमें उत्तमसे उत्तम मार्गकी कल्पना है।

रथ उत्तम हों, उनपर सुवर्णकी सजावट हो, उत्तम घोडे जोते जायँ और ऐसे रथ धूलिरहित मार्गसे चलते रहें, यह दृश्य वैदिक समयका यहां दीख रहा है। ऐसे रथोंमें वीर आरोहण करें और राक्षसों और यातना देनेवाले दुष्टोंका नाश करके जनताका सुख बढावें। (मं. १०)

सूर्यका प्रभाव

सूर्यदेवका प्रभाव इस सूक्तमें वर्णन किया है, वह देखने योग्य है—

१ स्वस्ति, ऊति । (मं. १)- कल्याण और सुरक्षा इनका साधन सूर्यदेव करता है, (सु-अस्ति) उत्तम आस्तित्व होना सर्वथा सूर्यकिरणोंपर निर्भर है। यहांका प्राणिमात्रका अस्तित्व सूर्यकिरणोंके कारणही होता है। सूर्यकिरण सब रोगबीजोंको हटाते और प्राणियोंको सुख होनेयोग्य वायु निर्माण करते हैं।

२ अमृतं मर्त्यं च निवेशयन् (मं. २)- अमर और मर्त्य ऐसे दो पदार्थ इस विश्वमें हैं, इन दोनोंका निवास सर्वथा सूर्यदेवके किरणोंपर निर्भर है। बरसातके दिनोंमें जब एक दो मास तक सूर्यकिरण नहीं मिलते, उन दिनोंमें मानवोंका स्वास्थ्य बिगडता है, रोग बढते हैं, मृत्युसंख्या विशेष रीतिसे बढ जाती है। इसका विचार करनेसे सूर्यकिरणोंके साथ आरोग्य का कितना घनिष्ट संबंध है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

३ सविता देवः विश्वा दुरिता अपबाधमानः। (मं. ३)- सूर्यदेव सब दुरितोंका नाश तथा प्रतिबंध करता है। (दुः-इतं) जो रोगबीज बाहरसे शरीरके अन्दर या मनके अन्दर घुसता है उसको दुरित कहते हैं। सूर्यकिरणोंसे इन सब का नाश होता है।

४ तविषीं दधानः (मं. ४)- सूर्यही बल धारण करता है। सब बलोंका आधार सूर्यही है।

५ अमीवां अपबाधते। (मं. ९)— रोगबीजोंको दूर करता है। सूर्यसे ही सब रोगबीज दूर होते हैं। (अम-वान्) अपचित अन्नको 'आम' कहते हैं, इस आमसे जो होता है, वह 'आमवान' अथवा 'अमीव' कहलाता है। इन रोगबीजोंका नाश सूर्य करता है। सूर्यसे पचनशक्ति बढती है और रोगबीज सूर्यकिरणोंसे दूर होते हैं।

६ रक्ष (मं. ११)- सूर्यदेव उक्त प्रकार रोगबीज दूर करने, बल बढाने, दुरित दूर करने और सबका सुखसे निवास करने द्वारा सबकी सुरक्षा करता है।

इस रीतिसे प्राणिमात्रपर तथा संपूर्ण विश्वपर अर्थात् मर्त्य और अमर वस्तुजातपर सूर्यका प्रभाव है। सूर्यके कारणही सब का निवास सुखसे होता है।

तीन द्युलोक

आकाशका नाम द्युलोक है। क्योंकि आकाश सदा-सर्वदा प्रकाशयुक्त रहता है। इस द्युलोकके तीन विभाग हैं। दो विभाग (**द्वा सवितुः उपस्थे**) सूर्यके पास रहते हैं और (**एका यमस्य भुवने विराषाट्** । मं. ६) एक विभाग यमके भुवनमें (वीर-साह) वीरोंके रहनेका स्थान है। अर्थात् वीर मरनेके बाद वहां जा कर रहते हैं। वह यम-लोक नामसे प्रसिद्ध है। परंतु उस लोकमें यह एक ऐसा स्थान है कि जिसमें केवल वीरोंके जीवही रहते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यमके भुवनमें जैसा वीरोंके लिये उत्तम स्थान होगा, वैसा दूसरे जीवोंके लिये भी स्थान होगा ही।

उत्तरीय ध्रुवमें आकाशके तीन विभाग माने तो पहिले दो ही विभागोंमें सूर्य रहता है, बीचके मध्य विभागमें सूर्य आताही

नहीं। इस तरह आकाशके तीन विभाग माननेसे तीन द्युलोकोंकी व्यवस्था इस तरह हो सकती है-

अथर्ववेदमें निम्नलिखित मंत्र इस विषयका विचार करनेके समय मनन करनेयोग्य है—
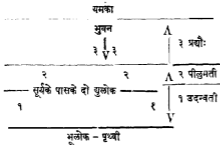
उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥४८॥
ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥ (अथर्व. १८।२)

" जलवाला द्युलोक पहिला है, प्रफुल्लित द्युलोक दूसरा है, तीसरा श्रेष्ठ द्युलोक है जहां पितर रहते हैं। जो अग्रगामी वीर द्वेष न करते हुए प्रशंसित कार्योंको करते हैं, वे अपत्यहीन मरनेपर भी तेजस्वी होकर, द्युलोकके पीठपर चढकर, वहां अपने स्थानको प्राप्त करते हैं।" यहां तीनों द्युलोकोंके नाम दिये हैं। (नाकस्य पृष्ठे) आकाशके पीठपर वा पृष्ठभागपर चढते हैं, यह पृष्ठभाग मध्य आकाशही है। जलवाला द्युलोक पहिला है, इसकी व्याप्ति मेघोंतक माननी उचित है। दूसरा प्रफुल्लित द्युलोक है। जिसमें विविध रंगोंकी चमकाहट होती है, जहां सूर्य उत्तरीय ध्रुवमें पहुंचा दीखता है। यह स्थान १० बजे सूर्य जहां आता है, वहांतक समझिये। यहांतकही यह दूसरा द्युलोक है। (आजकल हमारे देशमें) ८॥ बजेतकका सूर्य आनेतकका आकाश पहिली '**उदन्वती**' द्यु है, १० बजेतकका सूर्य चढनेतकका आकाश दूसरी '**पीलुमती**' द्यु है और शेष रहा आकाश '**प्रद्यौ**' है, जो मध्य आकाश अथवा (**नाकस्य पृष्ठं**) आकाशका पृष्ठभाग कहा गया है। यहीं पितर रहते हैं। वीरोंके मरणोत्तर निवासका यही स्थान है। ऋग्वेदके मंत्रका विचार अथर्वमंत्रके साथ करनेसे अर्थका स्पष्टीकरण ऐसा हो जाता है।

७ असु-रः अन्तरिक्षाणि वि अख्यत्। (मं.७)–जीवन की शक्ति देनेवाला सूर्य तीन अन्तरिक्षोंको प्रकाशित करता है। ये तीन अन्तरिक्ष 'भूः, भुवः, स्वः' अथवा 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु' किंवा पूर्वोक्त तीन द्युलोक हो सकते हैं। हमारे मतसे पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यु ये ही यहां लेनेयोग्य हैं।

८ पृथिव्याः अष्टौ ककुभः(मं.८)- पृथ्वीकी आठों दिशाओंको सूर्य प्रकाशित करता है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ये चार मुख्य दिशाएं और इनके बीचकी चार उपदिशाएं मिलकर आठ दिशाएं होती हैं। सूर्यका उदय होनेपर ये आठों दिशाएं प्रकाशित होती हैं।

सूर्यकी गति

सविता देवः भुवनानि पश्यन् आ याति। (मं.२)

सूर्यदेव भुवनोंको देखता हुआ आता है। यहां सूर्यकी गतिका जो उल्लेख है वह भासमान गति है। वास्तव गतिका नहीं। हमारा यह सूर्य अपनी ग्रहमालिकाके साथ एक महा सूर्यके चारों ओर घूम रहा है, वह गति इससे भिन्न है। यहां जो गति वर्णन की गयी है, वह उदयसे भासमान होनेवाली ही गति है। यह गतिका केवल भासही है।

'**रथ**' पदकी सिद्धि निरुक्तकार '**स्थिरतेर्वा विपरीतार्थस्य**' अर्थात् स्थिर होनेपर भी जो विपरीत (वा गतिमान्) दीखता है, वह रथ है। अर्थात् सूर्य स्थिर है, तथापि वह गतिमान् दीखता है। यह सूर्यवाचक रथका अर्थ है।

शेष बातें सूक्तके अर्थसे पता लग सकती हैं। सूर्यके वर्णनके लिये जो पद और वाक्य इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं, वे शूर वीरका वर्णन करनेवाले हैं। उनका विचार करनेसे वीर कैसा होना चाहिये, इसका ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका अवश्य मनन करें।

(नवम मण्डल)

(६) सोमरस

(ऋ. ९।४) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः । अथा नो वस्यसस्कृधि १
सना ज्योतिः सना स्व१र्विश्वा च सोम सौभगा । अथा नो वस्यसस्कृधि २
सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि । अथा नो वस्यसस्कृधि ३
पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे । अथा नो वस्यसस्कृधि ४
त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः । अथा नो वस्यसस्कृधि ५
तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक्पश्येम सूर्यम् । अथा नो वस्यसस्कृधि ६
अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम् । अथा नो वस्यसस्कृधि ७
अभ्य१र्षानपच्युतो रयिं समत्सु सासहिः । अथा नो वस्यसस्कृधि ८
त्वां यज्ञैरवीवृधन्पवमान विधर्मणि । अथा नो वस्यसस्कृधि ९
रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमा भर । अथा नो वस्यसस्कृधि १०

अन्वयः- हे महिश्रवः पवमान! सन च। जेषि च। अथ नः वस्यसः कृधि ॥ १ ॥

अर्थ— हे महान् यशस्वी सोम! प्रेम करो, विजय करो और हमें यशसे युक्त करो ॥ १ ॥

हे सोम! ज्योतिः सन। स्वः सन। विश्वा सौभगा च (सन)। ०॥ २॥

हे सोम! हमें ज्योति दो। प्रकाशका प्रदान करो। और सब प्रकारके सौभाग्य हमें दो।० ॥ २ ॥

हे सोम! दक्षं सन। उत क्रतुं सन। मृधः अप जहि०॥३॥

हे सोम! हमें बल दो और कर्म करनेकी शक्ति दो। हिंसकोंका नाश करो।० ॥ ३ ॥

हे पवीतारः! इन्द्राय पातवे सोमं पुनीतन। ० ॥४॥

हे सोमरस निकालनेवालो! इन्द्रके पीनेके लिये सोमका रस निकालो।० ॥ ४ ॥

त्वं तव क्रत्वा तव ऊतिभिः नः सूर्ये आ भज। ० ॥५॥

तुम अपने कर्मों और सुरक्षाओंसे हमें सूर्यकी प्राप्ति कराओ।० ॥ ५ ॥

तव क्रत्वा, तव ऊतिभिः सूर्यं ज्योक् पश्येम। ० ॥ ६ ॥

तुम्हारे कर्मों और सुरक्षाओंसे चिरकालतक हम सूर्यका दर्शन करेंगे।० ॥ ६ ॥

हे स्वायुध सोम! द्विबर्हसं रयिं अभि अर्ष।० ॥ ७ ॥

हे उत्तम शस्त्रवाले सोम! दोनों शक्तियोंसे युक्त धनकी हमपर वृष्टि करो।० ॥ ७ ॥

समत्सु अपच्युतः सासहिः रयिं अभि अर्ष।० ॥ ८ ॥

युद्धोंमें परास्त न होते हुए, शत्रुको परास्त करके हमें धन प्रदान करो।० ॥ ८ ॥

हे पवमान! त्वां यज्ञैः विधर्मणि अवीवृधन्।० ॥ ९ ॥

हे सोम! तुम्हें अनेक यज्ञोंके द्वारा अनेक कर्मोंमें (याजक लोग) संवर्धित करते हैं।० ॥ ९ ॥

हे इन्दो! चित्रं अश्विनं विश्वायुं रयिं नः आ भर।०॥१०॥

हे सोम! नाना प्रकारके अश्वोंसे युक्त, संपूर्ण आयुतक रहनेवाला धन हमें दो और हमें यशसे युक्त करो ॥ १० ॥

बोध

यह सोमका सूक्त है। इसमें निम्नलिखित बोध मिलता है- (मं. १) **सन**- प्रेम करो, पूजा करो, भक्ति करो, प्राप्त करो, संमान करो, दान दो। **जेषि**-विजय प्राप्त करो। **नः वस्यसः कृधि**— हमें धनयुक्त, यशस्वी, कीर्तिमान् और अन्नसे युक्त करो। (मं. २) **ज्योतिः सन**— प्रकाश बताओ, मार्ग बताओ, सन्मार्ग दर्शाओ। **स्वः सन**- आत्मिक प्रकाश दो, आत्मतेज बढाओ। **विश्वा सौभगा सन**— सब सौभाग्य, सब मंगल प्रदान करो। (मं. ३) **दक्षं सन**— हमें बल दो, शक्ति दो। **क्रतुं सन**— प्रशस्त कर्म करनेकी शक्ति दो। **मृधः अप जहि**— घातक शत्रुओंका नाश करो, हमारे शत्रुओंको दूर करो। (मं. ५) **क्रत्वा ऊतिभिः नः आ भज**-कर्मप्रवीणता और सुरक्षासे हमारी उन्नति करो। (मं. ७) **द्विबर्हसं रयिं अभि अर्ष**— दो प्रकारकी शक्तियोंसे अर्थात् आत्मिक और भौतिक शक्तियोंसे युक्त धन हमें मिले। यही धन सच्चा सुख देता है। (मं. ८) **समत्सु अपच्युतः सासहिः**- समरोंमें स्थिर रहकर लडनेकी शक्ति तथा शत्रुको परास्त करने की शक्ति हमें चाहिये। (मं. १०) **विश्वायुं रयिं आ भर**- संपूर्ण आयु देनेवाला धन हमें चाहिये।

इस सूक्तमें ये वाक्य बडे बोधप्रद हैं। पाठक मनन करके इन वाक्योंसे उचित बोध प्राप्त करें।

(७) सोमरस

(ऋ. ९।६९) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। पवमानः सोमः। जगती, ९-१० त्रिष्टुप्।

इषुर्न धन्वन्प्रति धीयते मतिर्वत्सो न मातुरुप सर्ज्यूधनि।
उरुधारेव दुहे अग्र आयत्यस्य व्रतेष्वपि सोम इष्यते १
उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि।
पवमानः संतनिः प्रघ्नतामिव मधुमान्द्रप्सः परि वारमर्षति २
अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतं यते।
हरिरक्रान्यजतः संयतो मदो नृम्णा शिशानो महिषो न शोभते ३
उक्षा मिमाति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम्।
अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ४
अमृक्तेन रुशता वाससा हरिरमर्त्यो निर्णिजानः परि व्यत।
दिवस्पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे कृतोपस्तरणं चम्वोर्नभस्मयम् ५
सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते।
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन ६
सिन्धोरिव प्रवणे निम्न आशवो वृषच्युता मदासो गातुमाशत।
शं नो निवेशे द्विपदे चतुष्पदेऽस्मे वाजाः सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः ७
आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्यवमत्सुवीर्यम्।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ८
एते सोमाः पवमानास इन्द्रं रथा इव प्र ययुः सातिमच्छ।
सुताः पवित्रमति यन्त्यव्यं हित्वी वव्रिं हरितो वृष्टिमच्छ ९
इन्दविन्द्राय बृहते पवस्व सुमृळीको अनवद्यो रिशादाः।
भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः १०

अन्वयः— इषुः धन्वन् न, (अस्मिन्) मतिः प्रति धीयते, मातुः ऊधनि वत्सः न, (इन्द्रे) उप सर्जि । उरु-धारा इव अग्रे आयती दुहे । अस्य व्रतेषु अपि सोमः इष्यते ॥ १ ॥

अर्थ– बाण धनुष्यपर जैसा (रखते हैं, उस तरह इस इन्द्रमें हमारी) बुद्धि रखी जाती है । जिस तरह माताके स्तनों-की ओर बछडा (जाता है वैसे ही हम इन्द्रकी ओर) जाते हैं । बहुत दूध देनेवाली (गौ) जैसी (बछडेके) अग्रभागमें जाती और उसको दूध देती है (वैसाही इन्द्र हमें इष्ट सुख देता है ।) इस (इन्द्र) के सभी कर्मोंमें सोम दिया ही जाता है ॥१॥

मतिः उपो पृच्यते । मधु सिच्यते । मन्द्राजनी आसनि अन्तः चोदते । पवमानः मधुमान् द्रप्सः वारं अर्षति, प्रघ्नतां इव संततिः ॥ २ ॥

(हमारी) बुद्धि (इन्द्रकी) ओर (स्तुति करनेके लिये) जा रही है । सोम सींचा जाता है । मधुर रसका आस्वाद लेनेवाली (जिह्वा) मुखके बीचमें (रसपानके लिये) प्रेरित हो रही है । छाना जानेवाला मीठा सोमरस बालोंकी छाननीपर जाता है, जैसे आघात करनेवाले योद्धाओंके शस्त्र (परस्पर संघर्षित होते हैं)॥२॥

वधूयुः अव्ये त्वचि परि पवते । अदितेः नप्तीः ऋतं यते अमीते । हरिः, यजतः, संयतः, मदः अक्रान् । नृम्णा शिशानः, महिषः न, शोभते ॥ ३ ॥

स्त्रीकी प्राप्तिके लिये उत्सुक हुआ (वर जैसा वधूके पास जाता है, वैसाही सोम) मेढीकी (बालोंसे बनी) छाननीपरसे छाना जाता है। पृथ्वीकी नातियाँ (औषधियाँ) यज्ञके पास जानेवालेके लिये कूट-कर ढीली की जा रहीं हैं। हरिद्वर्ण, पूज्य, इकट्ठा किया, आनंद-वर्धक सोम आक्रमण कर रहा है । जो पौरुषसे तेजस्वी और भैंसेके समान बलिष्ठ (वीरके समान) शोभता है ॥३॥

उक्षा मिमाति, धेनवः प्रति यन्ति । देवस्य निष्कृतं देवीः उप यन्ति । (सोमः) अर्जुनं अव्ययं वारं अति अक्रमीत् । सोमः, निक्तं अत्कं न, परि अव्यत ॥ ४ ॥

बलिष्ठ (सोम) शब्द कर रहा है, (उसके साथ) गौवें जाती हैं । देवके सजाये स्थानपर देवियाँ जाती हैं । (सोमरस) श्वेत रंगवाले मेढीके बालोंसे बनी छाननीको लांघ रहा है । सोम, स्वच्छ कवचके समान, (दुग्धसे) ढंका जाता है ॥४॥

अमर्त्यः हरिः निर्णिजानः अमृक्तेन रुशता वाससा परि व्यत । दिवः पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे कृत । चम्वोः उपस्तरणं नभस्मयम् ॥ ५ ॥

अमर और हरे रंगका (सोमरस) शोधित होता हुआ, अहिंसित तेजस्वी (दुग्धरूप) वस्त्रसे आच्छादित होता है। (उस सोमने) द्युलोकका पृष्ठभाग अपने तुरेंसे स्वच्छ किया था। और पात्रोंपर रखनेका आच्छादन तेजस्वी बना दिया था ॥५॥

सूर्यस्य इव रश्मयः, द्रावयित्नवः, मत्सरासः प्रसुपः, आशवः सर्गासः ततं तन्तुं साकं परि ईरते । इन्द्रात् ऋते किं चन धाम न पवते ॥ ६ ॥

सूर्यके किरणोंके समान, गमनशील, आनन्दवर्धक और (शत्रुको) निद्रा लानेवाले, प्रवाही और छाने गये (सोमरस) फैले हुए (यज्ञके) चारों ओर फैलते हैं । क्योंकि इन्द्रको छोडकर कोई भी दूसरे स्थानको वे नहीं पहुंचते ॥६॥

वृषच्युताः आशवः मदासः, सिन्धोः इव प्रवणे, निम्ने गातुं आशत । हे सोम ! नः निवेशे द्विपदे चतुष्पदे शं, अस्मे वाजाः कृष्टयः तिष्ठन्तु ॥ ७ ॥

बलवर्धक सोमसे निकले प्रवाही रस, नदियाँ निम्न भागमें (जाकर समुद्रको) जैसी (मिलती हैं), वैसे (इन्द्रके ही) मार्गको पकडते हैं । हे सोम ! हमारे घरमें द्विपाद और चतुष्पादके लिये सुख मिले । हमारे साथ अनेक बल और मानवसंघ रहें ॥७॥

हे सोम ! (त्वं) वसुमत् हिरण्यवत् अश्ववत् गोमत् यवमत् सुवीर्यं नः आ पवस्व । यूयं हि दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः, वयस्कृतः मम पितरः स्थन ॥ ८ ॥

हे सोम ! (तुम) धन, सुवर्ण, घोडे, गौवें और जौसे युक्त उत्तम वीर्य हमें दो । तुम निःसंदेह द्युलोकके उच्च स्थानपर अवस्थित, अन्नके कर्ता मेरे पितर ही हो ॥८॥

पवमानासः एते सोमाः सार्ति इन्द्रं अच्छ, रथा इव, प्र ययुः। सुताः अव्यं पवित्रं अति यन्ति। (ते) हरितः वर्व्रि हित्वी, वृष्टिं अच्छ ॥ ९ ॥

छाने जानेवाले ये सोमरस दाता इन्द्रके पास, रथ (युद्ध-स्थलके समीप जाने) के समान, जाते हैं। (सोमसे) निकाले रस मेढीके बालोंकी छाननीको लांघकर छाने जा रहे हैं। (वे) हरे रंगवाले (सोम) अपने आच्छादनका त्याग करके, (मेघोंसे) वृष्टि होनेके समान, (रसकी वृष्टि करते हैं)॥९॥

हे इन्दो ! (त्वं) सुमृळीकः अनवद्यः रिशादाः बृहते इन्द्राय पवस्व। गृणते चन्द्राणि वसूनि भर। हे द्यावा-पृथिवी ! (युवां) देवैः नः प्र अवतम् ॥ १० ॥

हे सोम ! (तुम) उत्तम सुख देनेवाले, अनिन्द्य और शत्रुका नाश करनेवाले (हो, वह तुम) बडे इन्द्रके लिये तैयार रहो। प्रशंसा करनेवालेके लिये आह्लाददायक धन दो। हे द्यावा-पृथिवी ! (तुम दोनों) सब देवोंके साथ हमारी सुरक्षा करो॥१०॥

सोमका काव्य

यह सूक्त काव्यका एक उत्तम नमूना है। सोमरस तैयार करनेकी रीति तो इसमें हैहि, पर काव्यकी प्रौढता भी यहां स्पष्ट दिखाई देती है। इसकी स्पष्टताके लिये उक्त मंत्रका आशय हम विशेष स्पष्ट कर देते हैं। अर्थके प्रत्येक वाक्यका आवश्यक स्पष्टीकरण यहां पाठक देखेंगे। मंत्रोंके क्रमसेही यह स्पष्टीकरण दिया जाता है—

"जिस तरह बाण धनुष्यपर रखा जाता है, उसी तरह हमारी बुद्धि इन्द्रपर स्थिर रहती है, अर्थात् इन्द्रकी स्तुति करनेमेंही हमारी मति तत्पर हो जाती है। जैसा छोटा बच्चा माताके स्तनके पास जाता है, उसी तरह हम भी इन्द्रके पास जाते हैं, अर्थात् हम इन्द्रको छोडही नहीं सकते, इतनी हमारी भक्ति इन्द्र-पर स्थिर रूपसे रहती है। जैसी दुधारू गाय बच्चेके पास प्यार करती हुई आती है और उसको दूध पिलाती है, वैसा इन्द्र भी हमारे ऊपर कृपा करता है और हमें इष्ट सुख देता है। इसलिये हम भी इन्द्रको सोमरसका अर्पण करते हैं। (१) हमारी बुद्धि केवल इन्द्रकीही भक्ति करती है। हम सोमवल्लिको प्रथम अच्छी तरह धोते हैं। इस धोनेके समयही मधुर सोमरस पीनेकी इच्छा करनेवाली जिह्वा रसपानके लिये उत्सुक होती है। जैसे परस्पर युद्ध करनेवाले वीरोंके शस्त्र एक दूसरेपर आघात करते हैं, उसी तरह सोम कूटा जाता है और उनकी छाननीसे छाना जाता है। (२) जैसा तरुण तरुणी स्त्रीके पास उत्सुकतासे जाता है, उसी तरह सोमरस छाननीके ऊपर चढता है और वहाँ निचोडा जाता है। पृथ्वीसे उत्पन्न हुई औषधियां –सोमवल्लियाँ— यज्ञके अन्दर समर्पित होनेके लिये कूट कूटकर ढिली की जाती हैं। उनसे रस निकाला जाता है, जो हरे रंगका, यजनके लिये योग्य, इकट्ठा रखा, आनन्द बढानेवाला रस छाननी-मेंसे नीचे चूता है। वह पौरुष बढाता, बल बढाता, है और पात्रोंमें संग्रहित होनेपर बडा शोभायमान दीखता है। (३) बल बढानेवाला सोमरस छाननीसे नीचे उतरते समय शब्द करता है, उस रसके साथ गाइयोंका (दूध साथ साथ मिलाया) जाता है। यज्ञके सजाये स्थानपर जहां देवताओंका आवाहन होता है, वहां ये औषधियां हवन होनेसे लिये जाती हैं। सोम-रस बालोंकी छलनीसे छाना जाता है और उसमें दूध मिलाया जाता है। (४) हरे रंगका सोमरस छाना जातेही उसमें दूध मिलाया जाता है, दूधका श्वेत रंग दीखनेतक यह मिलाया जाता है। इस सोमवल्लिने अपने तुरेंसे द्युलोकको, मानो, स्वच्छ किया था। इस कारण जिन पात्रोंमें सोमरस रखा जाता है, उनपर स्वच्छ किये ढक्कन रखे जाते हैं। (५) सूर्यकिरणोंके समान तेजस्वी, प्रवाही, आनन्दवर्धक, शत्रुको स्थायी निद्रासे सुलानेवाले छाने गये ये सोमरसके प्रवाह यज्ञमें इन्द्रको प्राप्त करनेके लिये जाते हैं। (६) जैसी नदियां समुद्रसे मिलती हैं, उसी तरह ये बल बढानेवाले सोमरस इन्द्रके पास पहुंचानेवाले मार्गको पहुंचते हैं। सोमसे हमारे द्विपादों और चतुष्पादोंका कल्याण हो। सोमसे हमारे बल बढें और मानवोंके संघोंकी सहायता हमें इससे प्राप्त होवे (७) सोमसे हमें धन, सुवर्ण, घोडे, गौवें और जौ आदि अन्न मिले, इससे हमारा वीर्य बढे। सोमही द्युलोकसे आकर हमारा पितृवत् पालन करता है। (८) जैसे रथ युद्धभूमिके पास पहुंचते हैं, वैसे ये सोमरस इन्द्रको प्राप्त करते हैं। जिस तरह मेघोंसे वृष्टि होती है, वैसेही रसके प्रवाह छाननीके ऊपर रखे सोमसे नीचे चूते हैं। (९) सोम-रस-पानसे सुख मिलता है, निन्द्य कर्म नहीं होते, शत्रुका नाश करनेका बल बढ जाता है। यह सोमरस इन्द्रको देनेके लिये तैयार किया जाता है। इस सोमरससे हमारे आनन्दकी वृद्धि हो और सब देवताएँ हमें सुरक्षित रखें। (१०)

क्या सोमरससे निद्रा आती है ?

'प्र-सुपः आशवः'— विशेष निद्रा लानेवाले ये सोमरस हैं। सायनाचार्य कहते हैं कि 'प्रसुपः' का अर्थ **(शत्रूणां प्रस्वापयितारः हन्तारः)** 'शत्रुओंको सुलानेवाले अर्थात् शत्रुका हनन करनेवाले' ऐसा यहां है। शत्रुकोही सुलानेका गुण सोममें है, अथवा जो पीता है उसको निद्रा लानेका गुण इसमें है, इसका विचार करना चाहिये। यदि सोमरसपानके पश्चात् पीनेवालेको निद्रा आयेगी, तो वीर शत्रुका पराजय सोमरसपानके पश्चात् नहीं कर सकेंगे। परंतु वेदमंत्रोंमें अनेक स्थानों पर कहा है कि सोम पीनेसे बल और उत्साह बढता है और सोमरसपानके बाद वीर शत्रुका पराभव करते हैं। इसलिये सोमरसपानसे नींद नहीं आ सकेगी। इसी कारण **'प्र-सुपः'** का अर्थ 'शत्रुको सुलानेवाला' करना योग्य है। वीर सोमरसपान करते हैं, उससे उत्साहित होते हैं, शत्रुसे बहुत लडते हैं और शत्रुका वध करके उसको स्थायी नींदमें सुलाते है। इसलिये सोमरसपानसे निद्रा, सुस्ती अथवा बेहोशी नहीं आती, परंतु उत्साह और आनंद बढता है।

अस्तु, इस सूक्तमें उपमाएं तथा अन्यान्य वर्णन बडा मनोरंजक और बोधप्रद है।

१ सोम लाना, २ सोमका धोना, ३ सोमको कूटना, ४ छननीपरसे छानना, ५ उसमें दूध मिलाना, ६ सोमपानसे बलका बढना और शत्रुका नाश होना, ये बातें इस सूक्तमें हैं।

१ उक्षा मिमाति, धेनवः प्रति यन्ति। (मं. ४)– बैल शब्द करता है, गौवें साथ जाती है। इसका अर्थ सोम छाननेके समय शब्द करता हुआ नीचेके बर्तनमें उतरता है और उसमें गौओंका दूध मिलाया जाता है, ऐसा है।

२ हरिः रुशता वाससा परि व्यत। (मं. ५)– हरे रंगवालेपर श्वेत वस्त्र पहनाया जाता है, अर्थात् हरे सोमरसमें श्वेत दूध मिलाया जाता है।

(ऐसे आलंकारिक प्रयोग इस सूक्तमें बहुत हैं। पाठक उनका अर्थ इस तरह समझें।)

३ दिवः पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे कृत। (मं. ५)– द्युलोकके पीठको सोम अपने तुरेंसे सुशोभित या स्वच्छ करता है। अथवा द्युलोकके पृष्ठभागको वह अपने ओढनेके लिये करता है। सोमवल्लि हिमालयके शिखरपर होती है। उस वल्लिको मोरके तुरेंके समान तुरें आते हैं, मानो वे द्युलोकको सुंदर बनाते, स्वच्छ साफसुथरा करते, अथवा द्युलोककोही ओढ लेते हैं। यह भी एक आलंकारिक वर्णन है।

४ छाननीसे सोमरसकी धाराएं नीचे उतरती है इसको (वृष्टि अच्छ) वृष्टिकी उपमा दी है। (मं० ८) छाननीसे उतरनेवाली धाराएं वृष्टिकी धाराएं है, सोम कूटा हुआ जो छाननीपर रख जाता है, वह मेघ है और नीचेका पात्र पृथ्वी है। इस तरह मेघकी उपमा सोमके लिये सार्थ होती है।

५ **'कृष्टयः'** पद ७ वें मंत्रमें है। वह मानवोंके समुदाय का सूचक है। समूह-रूपसेही मानव अमर है, व्यक्तिरूपमें मर्त्य है। **'आर्य'** जाति सदा जीवित रहेगी, पर एक व्यक्ति मरेगी।

६ सोमके लिये बलवर्धक अर्थमें महिषकी उपमा दी है। (मं. ३) बडा अन्न होनेका अर्थ (महा-इष्) में भी यह पद है। सोमरस उत्तम बल बढानेवाला अन्न है, यह प्रसिद्ध ही है।

यहां सोमके दोनों सूक्तोंका विवरण समाप्त होता है।

(दशम मण्डल)

(८) सविता देव

(ऋ. १०।१४९) अर्चन् हैरण्यस्तूपः । सविता । त्रिष्टुप् ।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥ १

यत्रा समुद्रः स्कभितो व्यौनदपां नपात्सविता तस्य वेद ।
अतो भूरत आ उत्थितं रजोऽतो द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २

पश्चेदमन्यदभवद्यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूना ।
सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्पूर्वो जातः स उ अस्यानु धर्म ॥ ३

गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना ।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥ ४

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ॥ ५

अन्वयः— सविता यन्त्रैः पृथिवीं अरम्णात् । सविता अस्कम्भने द्यां अदंहत् । अश्वं इव, अतूर्ते धुनिं अन्तरिक्षं बद्धं समुद्रं अधुक्षत् ॥ १ ॥

यत्र स्कभितः समुद्रः वि औनत् । हे अपां नपात् ! तस्य (स्थानं) सविता वेद । अतः भूः, अतः उत्थितं रजः आः, अतः द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २ ॥

अमर्त्यस्य भुवनस्य भूना अन्यत् इदं यजत्रं पश्चा अभवत् । हे अंग ! सः सुपर्णः गरुत्मान् सवितुः पूर्वः जातः । अस्य धर्म अनु उ ॥ ३ ॥

गावः इव ग्रामं, यूयुधिः इव अश्वान्, सुमनाः दुहाना वाश्रा इव वत्सं, पतिः इव जायां, विश्ववारः दिवः धर्ता सविता नः नि एतु ॥ ४ ॥

अर्थ-सविताने यन्त्रोंसे पृथ्वीको सुखसे सुस्थिर किया है। उसी सविताने विना स्तम्भोंका आधार दिये द्युलोकको (ऊपरही ऊपर) सुदृढ रखा है। (हिनहिनानेवाले) घोडेके समान कंपायमान होनेवाले अन्तरिक्षसे गतिहीन अवस्थामें बंधे समुद्रको दुह लिया (अन्तरिक्षमें मेघका दोहन करके समुद्र बनाया)॥१॥

जहांसे स्तंभित हुआ समुद्र (मेघ) जलकी वृष्टि करता है। हे जलको न गिरानेवाले (अथवा हे जलोंके पोते वैद्युत् अग्ने)! उसका स्थान सविता देव जानता है। उस (सविता) से भूमि, उससे ऊपर फैला अन्तरिक्ष और उसीसे द्युवे पृथ्वी (तकके सब पदार्थ) फैले हैं ॥२॥

अमर्त्य भुवनके बननेके नंतर दूसरा यह यजनीय (संपूर्ण यज्ञसाधन) पीछेसे उत्पन्न हुआ। हे प्रिय ! वह सुंदर पंखवाला (किरणवाला) महा सामर्थ्यवान् (उषाका प्रकाश) सूर्यके पूर्वही उत्पन्न हुआ था। इस (सविता) के धर्मके अनुकूल ही (वह प्रकाशता रहा) ॥३॥

गौवें जैसी (शामको उत्सुकतासे) ग्रामकी ओर (आती हैं), योद्धा वीर जैसे घोडोंके पास (जाते हैं), उत्तम मनवाली दूध देनेकी इच्छा करती हुई, हम्बारव करनेवाली धेनु जैसी बछडेके पास (जाती है), पति जैसा स्त्रीके पास (जाता है), (वैसा ही) सबको सेवनीय द्युलोकका आधार सविता-देव हमारे पास आ जाय ॥४॥

हे सवितः ! आंगिरसः हिरण्यस्तूपः अस्मिन् वाजे यथा त्वा जुह्वे । एव त्वा अर्चन् अहं अवसे वन्दमानः, सोमस्य इव अंशुं, प्रति जागर ॥ ५ ॥	हे सविता ! अङ्गिरस-गोत्रीय हिरण्यस्तूप ऋषिने ऐसे बलवर्धन करनेके कर्मोंमें जिस तरह तुम्हें बुलाया था, वैसे ही तुम्हें अर्चन् (नामक) मैं (भी अपनी) सुरक्षाके लिये वन्दन करता हुआ, सोमके रसकी (सुरक्षाके लिये जैसे जागते हैं वैसे) जागता हूं (सतत सावधानतासे तुम्हारा भजन करता हूं) ॥५॥

इस सूक्तका विचार अर्चन्के पिता हिरण्यस्तूप ऋषिके ऋ. १।३५ सविता-देवके सूक्तके साथ करना उचित है। पिता हिरण्यस्तूप और पुत्र अर्चन् इन दोनोंके सवितृदर्शनके ये मंत्र हैं। ऋ. १०।१४९ का ऋषि अर्चन् है । इस सूक्तके अन्तिम मंत्रमें ' हिरण्यस्तूप आंगिरस ' यह पिताका नाम है और ' अर्चन् ' ऋषि उसका पुत्र है । पुत्रका भी नाम उसी मंत्रमें है । पिता-पुत्रका तथा गोत्रका नाम इकट्ठा एकही मंत्रमें आनेसे स्पष्टता अधिक हुई है ।

सविताने पृथ्वीका धारण किया है, द्युलोकको ऊपर किसी आधारके विना स्थिर किया है । अन्तरिक्षका दोहन करके उसका समुद्र बनाया है (१) । स्तब्ध हुआ समुद्र मेघरूप बनकर आकाशमें रहता है, समुद्रके जलकी भांप होकर उसके मेघ बनते हैं, इसकी वृष्टिसे फिर समुद्रमें नदियों द्वारा जल पहुंचता है । ' अपां न-पात् ' यह नाम वैद्युत् अग्निका है । मेघमें जो जल है उसको न गिरा देना इसका कार्य है । जलोंसे मेघ, मेघकी विद्युत्, इस तरह यह जलोंके पुत्रका पुत्र है । अतः उसे ' अपां नपात् ' कहते हैं । भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु तथा बीचके सभी पदार्थ सवितासे ही बनते हैं ।

सविता

भूः	अन्तरिक्ष	द्यु
वृक्षवनस्पति	वायु, मेघ	सूर्य
पशुपक्षी	विद्युत्	प्रकाश
आदि	आदि	आदि

साथवाले चित्रमें बताये अनुसार सवितासे त्रिलोकीका सब कुछ पदार्थ मात्र बनता है । इस त्रिलोकीमें जो भी है वह सब सवितासे ही बना है। सविताकी शक्तिका यह विस्तार है। सविता बीज है, उस बीजका यह विस्तार है, उस बीजका यह वृक्ष है । (२)

सूर्य अमर है, उससे यह मर्त्य पदार्थजात बना है। भूमि होनेके पश्चात् यज्ञद्रव्य, समिधा, अन्न, सत्तु, चावल, दूध, घी आदि सब बना है । पहिले सूर्यसे किरण फैले हैं, उससे उषा बनी, उससे सूर्य हुआ, सूर्यसे सब कुछ बना है । (३)

सविता देव बडी उत्सुकतासे हमारे पास आता है, क्योंकि हम उसी की उपासना करते हैं । (यह उत्सुकता बतानेके लिये चार उदाहरण दिये हैं, वे मूल अर्थमें देखिये) । (४)

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि जैसी मेरे पिता आंगिरस् कुलमें उत्पन्न हिरण्यस्तूपनें तुम्हारी प्रार्थना बल बढानेके लिये की थी, वैसी ही मैं कर रहा हूं । जैसी तुमने मेरे पितापर कृपा की थी वैसी ही मुझपर करो ' यह इसका तात्पर्य है ।

इस सूक्तका विचार करके पाठक सूर्यका विज्ञान जानें ।

हिरण्यस्तूप ऋषिका दर्शन
समाप्त

हिरण्यस्तूप ऋषिका दर्शन

विषयसूची

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ७५) रु रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** वन, विराट, उद्योग, शांति ये पर्व समाप्त हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। वैदिक धर्म' के आकार के १३५ पृष्ठ चिकना कागज सजिल्द का मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ||=), डा० व्य० =

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० और डा० व्य० ।=) सात आना है। म० आ० से २॥=) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इञ्च मू० ।) रु., डा व्य, -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.